वन की लड़ाई

वन नीति की आलोचना

पीपुल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राइट्स,
अप्रैल, 1982

प्रकाशक

गोविन्द मुखोटी,
अध्यक्ष, पीपुल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राइट्स
213, जोरबाग
नई दिल्ली-11003

मुद्रक

सुरुचि मुद्रण,
दिल्ली-1132

भारत सरकार ने एक नए भारतीय जंगल अधिनियम का मसौदा तैयार किया है जो जल्द ही संसद में कानून बनाने के लिए पेश किया जाएगा। सरकार कहती है कि नए कानून का उद्देश्य तेजी से कट रहे जंगलों के विनाश को रोकना है। लेकिन, प्रस्तावित कानून का हमारे देश की अर्थव्यवस्था, पर्यावरण, जनवादी मूल्यों तथा जंगल में और उसके इर्द-गिर्द रहनेवाली गरीब जनता पर गंभीर प्रभाव पड़ेगा। पिछली शताब्दी से शासन करनेवाली सरकारें जंगल के बारे में अपनी जो नीतियां तय करती रहीं हैं, उसी के संदर्भ में इस मसौदे का अध्ययन करना चाहिए। पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स इस मसौदे के खिलाफ अभियान छेड़ते हुए यहां इसकी विस्तृत आलोचना पेश करती है और देश के जनवादी व्यक्तियों, संस्थाओं और संगठनों से अपील करती है कि वे इस मसौदे को वापस लेने के लिए सरकार से मांग करें।

विषय-सूची

1.	भूमिका	1
2.	सरकार और जंगल	3
3.	वन और व्यवसाय	8
4.	जंगल और आदिवासी	12
5.	जंगल और जन आन्दोलन	16
6.	जंगल और पर्यावरण	22
7.	नये जंगल कानून का मसौदा	27
8.	निष्कर्ष	30
9.	परिशिष्ट	32

जंगल से दूर रहने वाले जंगल के बारे में क्या सोचते हैं ? वे सोचते हैं कि जंगल बहुत रोमांचक और डरावना है जैसाकि उन्होंने बचपन में सुनी कहानियों से जाना है, या फिर वे सोचते हैं कि जंगल में सिर्फ पेड़ और लकड़ी होती है, जैसाकि वे ट्रकों और मालगाड़ी के डिब्बों में लद कर आती कच्ची लकड़ियों को देखकर समझते हैं। जंगल के अंदर भी मनुष्यों का एक पूरा समाज है, इतिहास और संस्कृति है, उनके सुख-दुख और सपने हैं— इसे जंगल से बाहर रहने वाले नहीं समझते। जंगल से बाहर रहनेवाली अधिकांश जनता को जंगल और जंगल में रहनेवालों के बारे में कुछ जानकारी नहीं है। उनका जंगल से रिश्ता सरकारी तंत्र के जरिए है। सरकार उन्हें जंगल को जिस रूप में दिखाती है, उसी रूप में वे देख पाते हैं। खुद सरकार जंगल को किस तरह देखती है ? जंगल की समस्या को समझने के लिए जंगल के बारे में सरकार के दृष्टिकोण और इरादों को पहले ठीक से समझना जरूरी है।

सरकारी आंकड़ों के मुताबिक हमारे देश का कुल 74·8 लाख हेक्टर इलाका जंगल है। यह जंगल वाला इलाका हमारे देश के कुल क्षेत्रफल का लगभग 23% है। ये जंगल हिमालय के पास, पश्चिम समुद्री घाट, दक्कन के पठार, विन्ध्य पर्वतमाला, झारखंड और उत्तर-पूर्वी सीमान्त में हैं।

समाज के लिए जंगल तीन दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। (i) ये उद्योगों और भवन-निर्माण में लगनेवाले कच्चे माल (केन्दू पत्ता, तेल-बीज, लाह और लकड़ी आदि) का स्रोत है, (ii) मिट्टी के कटाव और पर्यावरण-प्रदूषण को रोकने, भूमि की उत्पादकता तथा मौसम के स्वभाव को बनाए रखने के लिए जरूरी है। (iii) जंगल में रहनेवाले लाखों परिवारों का यह घर है, जीवनदाता और आजीविका का एकमात्र स्रोत है।

जंगल से कच्चा माल मिलता है, जैसे कारखानों, खदानों, सुरक्षा, बिजली के खम्भों आदि के लिए तथा घरेलू काम के लिए लकड़ी मिलती है। जंगल से मिलनेवाली जलावन की लकड़ी भारत की ४०% से भी अधिक जनता के लिए खाना पकाने का एकमात्र जरूरी ईंधन है। इनके अलावा किसानों को हल और दूसरे औजारों के लिए लकड़ी और अपने जानवरों के लिए चारा भी जंगल से ही मिलता है। जंगल भी कई तरह के होते हैं। कुल जंगल प्राकृतिक रूप से उगे होते हैं और कुछ आदमी द्वारा लगाये जाते हैं। जंगल में पाये जाने वाले पेड़-पौधों के प्रकार पर उस इलाके की जलवायु और मिट्टी निर्भर करती है। उत्तर भारत में, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश के इलाकों में चीड़, देवदार, फर आदि पेड़ बहुत हैं। इनकी लकड़ी कागज, खोखे, खम्भे, फट्टे इत्यादि बनाने के काम में आती है। चीड़ के पेड़ों से एक तरह का गोंद निकाला जाता है, जिससे तारपीन का तेल और रेसिन बनता है जो वार्निश बनाने के काम आता है। मध्य, उत्तर-पूर्व और दक्षिण भारत के जंगलों में चौड़ी पत्ती वाले पेड़ अधिक होते हैं। मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश और महाराष्ट्र के

जंगल सागवान की लकड़ी के लिए प्रसिद्ध हैं। साल के पेड़ों का भी कई कामों में उपयोग होता हैं और इसके जंगल झारखंड, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और पूर्वी मध्य प्रदेश में हैं। चंदन और रोज़ वुड जैसी कीमती लड़की के पेड़ केरल, कर्नाटक और तमिलनाडु के कुछ जंगलों में हैं। हिमालय को छोड़कर देश के सभी जंगलों में बाँस मिलते हैं। उड़ीसा, मध्य प्रदेश और आंध्रप्रदेश के जंगलों में बीड़ी बनाने के लिए केंदू (तेन्दू) के पत्ते वाले पेड़ हैं। सेमल की लकड़ी, जो उड़ीसा, आसाम और पालघाट के जंगलों में मिलती है, माचिस बनाने के काम आती है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान में खैर के पेड़ हैं जिनकी लकड़ी से कत्था और कच्च बनाया जाता है।

जंगल और पर्यावरण एक दूसरे पर कई तरह से असर डालते हैं। भूमंडल में पानी, ऑक्सीजन, कार्बन और नाइट्रोजन का जो चक्र लगातार चलता रहता है उसमें जंगलों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। जंगलों का असर पृथ्वी पर पहुंचने वाली सूरज की गर्मी, हवाओं, नमी और तापमान पर भी होता है। जिससे वर्षा और मौसम के नियम प्रभावित होते हैं। जंगलों के कारण ही मिट्टी के ऊपरी सतह का उपजाऊपन बना रहता है जिस पर खेती निर्भर है। जंगल से ढंके होने पर जमीन पर वर्षा की बौछारों का जोर कम हो जाता है जिससे मिट्टी का कटाव रुकता है। वर्षा का पानी धीरे-धीरे रिस कर जंगल की जमीन की निचली सतह में समा जाता है, जो जमीन के नीचे-नीचे बहकर नदी-नालों में पहुंचता है जिससे सूखे मौसम में भी मैदानी इलाकों में पानी मिल जाता है। यदि ये जंगल कट जाते हैं तो मिट्टी के कटाव, बाढ़, सूखा, भू स्खलन और कम वर्षा से किसानों को और पूरी जनता को भी बहुत सी मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा।

हमारे देश में करीब सवा चार करोड़ आदिवासी रहते हैं। जंगल सदियों से इन आदिवासियों का घर रहा है। सदियों से वे जंगल के स्वामी, मित्र और रक्षक रहे हैं। उन्हें जंगल से भोजन, आश्रय और रोजगार मिलता है। उन्हें जंगल में शिकार खेलने और अपने कामों में जंगल का उपयोग करने की स्वतंत्रता रही है। जंगल और आदिवासियों के अटूट संबंध की झलक उनकी अनगिनत लोक-कथाओं और लोक-गीतों में मिलती है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि वे जंगल को अपना समझते हैं। पर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश सरकार ने वन-विभाग के नाम से जंगल का एक नया मालिक खड़ा कर दिया और जंगल में आदिवासियों की स्वतंत्रता और उनके अधिकारों का दमन किया जाने लगा। देश के कई हिस्सों में आदिवासियों के साथ-साथ गैर-आदिवासी गरीब जातियां भी जंगलों में रहती हैं। लेकिन उनका भी जंगल से आदिवासियों जैसा ही संबंध है। आदिवासियों की तरह उन्हें जी जमीन से बेदखली, साहूकारी, ठेकेदारी, जंगल पर परंपरागत अधिकारों का दमन आदि समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। (इस पुस्तिका में हम आगे जहां भी जंगल के आदिवासियों की समस्या की चर्चा करेंगे वहां पर चर्चा जंगल में रहने वाली गैर-आदिवासी गरीब जातियों पर भी लागू होगी।)

कच्चे माल का स्रोत, पर्यावरण का संरक्षण और आदिवासियों की रोजी-रोटी का स्रोत—जंगल की ये तीनों भूमिकायें एक-दूसरे के विरोध में जाती दिखाई पड़ती हैं। जंगल की लकड़ी और दूसरे कच्चे माल का शोषण आदिवासियों की जिन्दगी को उजाड़कर ही

किया जा सकता है। जंगलों की लगातार कटाई से जंगल मिटेंगे जिसका पर्यावरण पर बुरा असर होगा। ऊपर से देखने पर लगता है कि विकास की प्रक्रिया में यह सब होना अवश्यंभावी है और इससे बचना असंभव है। लेकिन यह एक सतही निष्कर्ष है जो सही नहीं है। जंगल कितनी जल्दी कटते और मिटते हैं और आदिवासी कितना उजड़ते हैं, यह इस पर निर्भर है करता है कि सरकार किस तरह का विकास चाहती है, अंग्रेजी शासन और स्वतंत्र भारत की सरकारें विकास के इन अंतर्विरोधों से परिचित रही हैं। लेकिन इन सभी सरकारों ने अपने व्यवहार से लगातार अपना एक ही उद्देश्य प्रगट किया है—जंगल पर राज्य का अधिकार कायम करके व्यवसायिक वर्गों के अधिकतम मुनाफे के लिए जंगल का शोषण करना। इससे मौसम बिगड़ा, देश की सम्पत्ति का नुकसान हुआ, आदिवासी उजड़े और उनके परंपरागत जनवादी अधिकारों और आवश्यकताओं को कुचला गया, इसकी किसी भी सरकार ने चिन्ता नहीं की। व्यवसायिक वर्ग के हित में सरकार की ये नीतियां ही जंगलों के विनाश के लिए जिम्मेदार हैं। खुद सरकार द्वारा बैठाए गए जांच आयोगों ने अपनी रिपोर्ट में यह बात मानी है। लेकिन विडम्बना तो यह है कि फिर भी अधिकारी वर्ग कई सालों से इस विनाश का दोष देश के गरीब आदिवासियों के मत्थे मढ़ता रहा। केन्द्रीय वन मंडल की लम्बी-चौड़ी बैठकों और कई जंगल, खेतिहर और पर्यावरण संबंधी समितियों और आयोगों की भारी-भरकम रिपोर्टों में यह तर्क दिया जाता रहा कि आदिवासी जंगलों की बरबादी के कारण हैं। राजनीतिक पार्टियों ने भी इस तर्क की वैधता पर कोई सवाल खड़ा नहीं किया। जंगलों से दूर शहरों में रहने वाले शिक्षित भी आंख मूंद कर इन तर्कों को स्वीकार करते रहे।

जनवादी मूल्यों में विश्वास रखने वाले जंगलों की बरबादी के कारणों और झूठे सरकारी प्रचार के पीछे छिपी मंशा को गहराई मे जांचना चाहिए। उन्हें इस समस्या के हर पहलू पर गौर करना चाहिए। इस जांच की शुरुआत सरकार की वन-नीति के ऐतिहासिक विवेचन से करनी होगी।

II
सरकार और जंगल

सदियों से जंगल आदिवासियों का घर रहा है और आदिवासी उसके प्राकृतिक स्वामी रहे हैं। उनके विश्वासों, सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्यों, परम्परागत रीति-रिवाजों और आर्थिक जरूरतों की पूर्ति का जंगल से घनिष्ठ संबंध रहा है। जंगल आदिवासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक व्यवस्था के अविच्छिन्न अंग रहे हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्य में अंग्रेज शासकों ने जंगलों पर सरकारी नियंत्रण कायम कर जंगल और आदिवासियों के बीच सदियों के प्राकृतिक सम्बन्ध पर हमला किया। परन्तु उन्नीसवीं सदी के शुरू में ही छोटानागपुर के इलाके में आदिवासियों के लगातार विद्रोहों और 1856 के

संथाल-विद्रोह के कारण अंग्रेज सरकार अपनी जंगल की नयी नीति लागू करने में बहुत हिचकिचाती रही। ब्रिटिश सरकार की वन-नीति जंगलों पर सरकारी प्रभुत्व धीरे-धीरे कई चरणों में जमाते हुए विकसित हुई।

जंगल पर सरकारी नियंत्रण की शुरुआत सन् 1865 में सरकारी जंगल कानून बनाने से हुई। यह कानून बनाकर सरकार ने इसे अपना अधिकार घोषित किया कि वह कभी भी किसी भी जंगल को सरकारी जंगल घोषित कर सकती है। लेकिन उसने यह घोषणा भी की कि जंगल पर आदिवासियों के परम्परागत अधिकारों की रक्षा की जायेगी।

धीरे-धीरे अंग्रेज सरकार और अंग्रेज पूंजीपतियों की जरूरतें बढ़ने लगीं और तब उन्होंने 1878 में पुराने कानून की जगह एक नया कानून, "भारतीय जंगल कानून" लागू किया। नये कानून ने पहली बार जंगल को तीन वर्गों में बांटा—आरक्षित जंगल (रिजर्व फॉरेस्ट), ग्रामीण जंगल (विलेज फॉरेस्ट) और संरक्षित जंगल (प्रोटेक्टेड फॉरेस्ट)। इसी वर्गीकरण के आधार पर कुछ जंगलों पर कम सरकारी नियंत्रण और कुछ पर अधिक नियंत्रण कायम किया गया, इस कानून से पहली बार सरकार के हाथ इतने लम्बे हो गये कि वह सिर्फ कुछ शर्तें लगाकर आरक्षित घोषित करके उसे आदिवासियों से छीन सकती थी। इसके साथ ही पहली बार इमारती लकड़ी पर, जो जंगल से आर्थिक लाभ का एकमात्र स्रोत थी, लेवी लगायी गयी। इसके अलावा कुछ खास कामों को जंगल कानून के विरुद्ध माना गया और ऐसे कामों की एक सूची भी बनायी गयी जिन्हें अपराध कहा गया। जंगल के अधिकारियों को एक मजिस्ट्रेट के अधिकार दे दिए गये कि वे कभी भी किसी भी व्यक्ति को, केवल शक होने पर, बिना वारंट के पकड़ सकते हैं। इसके बाद सन् 1890 और 1891 में सरकार ने इस कानून में दो और संशोधन करके जंगल पर अपने नियंत्रण को और भी बढ़ा लिया। 1882 में मद्रास प्रांत में भारतीय जंगल कानून की तरह मद्रास जंगल कानून बनाया गया। इन कानूनों के अलावा सन् 1894 में ब्रिटिश सरकार ने बहुत धूमधाम से अपनी वन-नीति की घोषणा की। आज से 112 वर्ष पहले अंग्रेज शासकों ने जो वन-नीति तैयार की उसके बहुत से मुद्दे स्वतंत्र भारत की सरकार की वन-नीति में भी मौजूद हैं जो सरकार को जंगलों पर अपना नियंत्रण बढ़ाने का रास्ता दिखाते हैं। ब्रिटिश वन-नीति में बहुत साफ-साफ कहा गया कि "जनता के हितों के लिए" सरकार को आदिवासियों के "विशेषाधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाने और नियम बनाने" की जिम्मेदारी अपने हाथ में लेनी चाहिए। इस तरह सरकारी नीति ने आदिवासियों और देश की बाकी जनता के हितों के बीच एक विरोध दिखाने की कोशिश की और उसमें आदिवासियों के विरुद्ध बाकी समाज का पक्ष लेने का प्रदर्शन किया। यहां यह गौर करने लायक है कि "जनता के हितों के लिए" शब्दजाल का इस्तेमाल सरकार की हर वन-नीति में होता रहा जिसका असली मतलब व्यवसायिक वर्गों के हितों से अधिक कुछ नहीं था। इस वन-नीति को लागू करने के लिए जंगल को चार भागों में बांटा गया—

(1) वे जंगल जिन्हें मौसम या अन्य पर्यावरण संबंधी कारणों से बचाना जरूरी था। इस वर्ग में आम तौर पर पहाड़ों की चोटियों के जंगल आते थे। (2) वे जंगल जिनसे व्यापार की कीमती इमारती लकड़ी मिलती थी। (3) वे जंगल जिनसे मामूली और छोटे

आकार की इमारती लकड़ी मिलती थी और (4) चारागाह वाला जंगल। वन-नीति के तहत किए गए इस वर्गीकरण और जंगल कानून के तहत किए गए पहले वर्गीकरण (जिसमें जंगलों पर सरकार का कम-ज्यादा नियंत्रण था) के बीच आपस में कोई तालमेल न था। जंगल कानून में चार बार और संशोधन किए गए। इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने 1927 में एक लंबे-चौड़े जंगल कानून की घोषणा की। लेकिन जंगलों का महत्वपूर्ण वर्गीकरण (आरक्षित, ग्रामीण और संरक्षित जंगल) वैसे का वैसा ही रखा गया। जहां तक सरकारी नियंत्रण का सवाल है आरक्षित जंगल तो पूरी तरह से सरकारी जंगल ही होते थे, जिनमें आदिवासियों को बसाना, हटाना या उनके अधिकारों को बदलना, कुछ भी सरकार कर सकती थी। लेकिन संरक्षित जंगलों में ऐसा नहीं था। ऐसे जंगल के अधिकार लिखित रूप में होते थे और सरकार इन अधिकारों को अपनी मन-मर्जी से बदल नहीं सकती थी। गांव के जंगल में पूरी छूट थी, वहां किसी भी तरह का सरकारी नियंत्रण नहीं था। 1927 के इस कानून में (जिसे भारत सरकार अब नया कानून बना कर बदलना चाहती है) पांच महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए थे। इन परिवर्तनों से आरक्षित जंगलों पर सरकारी नियंत्रण और भी कड़ा हो गया और उनके अन्दर रहने वाले आदिवासी-गैर आदिवासियों को एक खास समय के अंदर अपना हिसाब-किताब चुकता करने के लिए कह दिया गया। अब सरकार ने न सिर्फ सरकारी जंगल की इमारती लकड़ी पर बल्कि किसी भी जंगल की किसी भी लकड़ी पर लेवी लगाने का अधिकार हासिल कर लिया। ऐसे कामों की सूची, जिन्हें अपराध माना गया, और भी लंबी हो गयी। ऊपर से यह प्रावधान भी रख दिया गया कि इन कामों के लिए दोषी ठहराये जाने पर कोई सुनवाई न होगी और 500 रु० जुर्माना या छः महीने जेल या जेल और जुर्माना, दोनों ही हो सकते हैं। जंगल काटकर या जलाकर खेती करने की प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाने या उसे खतम करने का अधिकार भी राज्य सरकार को दे दिया गया। सबसे खास बात तो यह थी कि इस कानून में जंगल में रहने वाली जातियों के "सामुदायिक अधिकारों" की चर्चा खतम कर दी गयी और उसकी जगह "व्यक्तियों के अधिकारों और विशेषाधिकारों की चर्चा की गयी।

सन् 1935 में भारत सरकार के कानून के मुताबिक जंगल के मामले को प्रांतों के कानूनी अधिकार क्षेत्र में डाल दिया गया। यहां यह बात गौर करने लायक है कि सरकार के ये नियम और कानून जमींदारों और राजा-महाराजाओं के निजी जंगलों पर लागू नहीं होते थे। उन्हें सरकारी कानूनों से पूरी छूट मिली हुई थी।

स्वतंत्रता के बाद, सन् 1952 में भारत सरकार ने अपनी नयी जंगल नीति बनायी। नयी नीति में पुरानी नीति की बहुत-सी बातें बरकरार रखी गयीं। 1952 की नीति तय होने से पहले दूसरे महायुद्ध के दौरान युद्ध और सुरक्षा की जरूरतों को पूरी करने लिए जंगलों का महत्व क्या है, इसे भारत के शासक वर्ग ने अच्छी तरह समझा। महायुद्ध के दौरान जंगलों से मिलने वाले कुल राजस्व में सात गुना की वृद्धि हुई। राजाओं और महाराजाओं के जंगल भी अब सरकारी अधिकार क्षेत्र में ले लिए गए। स्वतंत्र भारत की सरकार ने कहा कि उसकी नयी नीति के बुनियादी सिद्धांत अब भी वही हैं जो 1894 की वन नीति

के थे। 1952 की वन-नीति में जो बातें नयी जोड़ी गयीं वे इस प्रकार हैं। इस नीति को "6 स्थायी जरूरतों" के आधार पर बनाया गया : (1) जमीन के उपयोग का एक संतुलित तरीका निकालने की जरूरत (अर्थात् कितना जंगल काटा जाये, कितना लगाया जाए और कितने पर खेती की जाए), (2) मिट्टी के कटाव और बाढ़ों को रोकने की जरूरत, (3) कटे हुए जंगल की जगह और उसके अलावा नये जंगल उगाने की जरूरत, (4) किसानों की जरूरत, जैसे चारागाह, खेती के औजार और घर बनाने के लिए तथा जलावन के लिए लकड़ी, (5) सुरक्षा, संचार और उद्योगों के लिए इमारती लकड़ी और जंगल की दूसरी पैदावार लगातार जुटाने की जरूरत और (6) अधिक से अधिक सालाना राजस्व जुटाने की जरूरत। "जंगल के और उसके आस-पास के लोगों की भलाई के लिए काम आगे बढ़ाने की जरूरत" पर जोर देने के बावजूद जंगल पर और जंगल की पैदावार पर सबसे पहले इन्हीं लोगों का अधिकार है, इस बात को कोई महत्व नहीं दिया गया। अपनी सुविधा के अनुसार एक नया वर्गीकरण किया गया जिसमें जंगलों को चार भागों में विभाजित किया गया : संरक्षित जंगल, जिन्हें जलवायु या अन्य प्राकृतिक कारणों के लिए बचाया जाएगा या जिसमें नये जंगल उगाए जाएंगे; सुरक्षा, संचार और उद्योग की जरूरतों को पूरा करने के लिए राष्ट्रीय वन; ग्रामीण जंगल, जिससे किसानों की जरूरतें पूरी हों; प्राकृतिक परिस्थितियों में सुधार के लिए वृक्षों वाली जमीन।

सरकार ने दावा किया था कि पुरानी वन नीति और नयी वन नीति में कुछ खास फर्क नहीं है। पर फर्क था। फर्क यह था कि आरक्षित जंगलों में, उसी में रहने वालों के लिए भी, घुसना मना हो गया; आदिवासियों के निजी जंगलों तक पर नियंत्रण कर लिया गया और चारागाह की जमीन भी सरकारी नियंत्रण में ले ली गयी।

यह वन-नीति इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसमें व्यवसायी खेतों की जरूरतों और पर्यावरण की सुरक्षा की जरूरत तथा आदिवासियों की जरूरतों के बीच विरोध देखने का प्रयास बहुत स्पष्ट रूप से झलकता है। इस वन-नीति में बाढ़ से बचाव के लिए कहा गया कि देश का वन क्षेत्र 24% से बढ़ाकर 33% कर देना चाहिए और हिमालय और दक्कन पहाड़ों पर जंगल का क्षेत्र 60% तक बढ़ा देना चाहिए। लेकिन दूसरी ओर जंगल में और उसके आसपास रहने वाले आदिवासियों और दूसरी गरीब जातियों के "समुदायिक अधिकार" जो 1927 में "व्यक्तियों के अधिकारों और विशेषाधिकारों" में बदल गए थे, 1952 में वे "अधिकारों और रियायतों" में परिवर्तित हो गए।

इस नयी नीति के फलस्वरूप सरकार ने 1927 के जंगल कानून में कुछ परिवर्तन भी किए। इस नयी वन नीति से जंगल कानून और जंगल नीति के बीच की खाई बहुत बढ़ गयी। नीति बड़े-बड़े महान उद्देश्यों को सामने रखती थी, जैसे, पर्यावरण की सुरक्षा, विकास की आवश्यकता और आदिवासियों का कल्याण, जबकि कानून जंगल पर आदिवासियों के अधिकारों को सीमित करता और उन्हें जंगल से दूर रखने की कोशिश करता था।

पिछले तीन दशकों से इस वन नीति ने जंगलों को और जंगल में रहनेवालों को सिर्फ नुकसान पहुंचाया। आदिवासियों पर बहुत मुसीबतें आयीं। वन प्रशासन में भी बहुत परिवर्तन हुए। वन संरक्षक, वन पाल और वन अधिकारी जैसे प्रशासनिक अधिकारियों की एक लंबी-चौड़ी फौज स्थानीय लोगों पर लाद दी गयी। इन्हीं लोगों के मनमाने फैसलों के आधार पर जंगल का वर्गीकरण होता है। इन अधिकारियों की कृपा से राजस्थान और महाराष्ट्र के कुछ इलाके, जहां पेड़ न के बराबर हैं, वन क्षेत्र घोषित कर दिए गए हैं। बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा के वे हिस्से भी वन क्षेत्र में शामिल कर लिए गए जहां आदिवासी हमेशा से खेती करते आ रहे थे। आज भारत में कुल वन क्षेत्र कितना है यह कहना मुश्किल हो गया है। 1971 में केन्द्रीय वन आयोग के अनुसार भारत में कुल वन क्षेत्र 747.4 लाख हेक्टर था। लेकिन कृषि संगणना के अनुसार कुल वन क्षेत्र 660 लाख हेक्टर था। वन विभाग के अधिकारियों को परमिट और लाइसेंस जारी करने का अधिकार हासिल होने के कारण वन विभाग में बहुत बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार फैला है। समय बीतने के साथ-साथ छः जरूरतों में से सिर्फ 2 ही जरूरतें सरकारी वन-नीति का आधार बन गयी हैं—व्यवसायिक जरूरतें और अधिकतम राजस्व जमा करने की जरूरत। ठेकेदारों ने, जिन्हें इन दो जरूरतों के चलते जंगल में घुसने का मौका मिला, धीरे-धीरे जंगलों पर पूरी तरह से कब्जा जमा लिया है। इन ठेकेदारों ने जंगल की छोटी-मोटी पैदावारों के व्यापार पर भी अपना पूरा नियंत्रण कर लिया है और जंगल के आस-पास जमीनें भी खरीद ली हैं। जंगल के भीतरी इलाकों में आज विकास का एक ही अर्थ रह गया है, पक्की सड़कें बनाना, जिनसे वनों का विनाश और भी आसान हो गया है। जनता के हित या देश के विकास के नाम पर जंगलों की अंधाधुंध कटाई और वन विभाग के अधिकारियों और व्यवसायियों तथा ठेकेदारों के सांठ-गांठ से चल रहे भ्रष्टाचार का नतीजा आखिर में जंगल में रहने वाले आदिवासियों और गरीब गैर-आदिवासियों को ही सहना पड़ता है। अपने परंपरागत अधिकारों का छीन लिया जाना, भ्रष्ट वन अधिकारियों के हाथों लगातार मुसीबतें, अत्याचार, बलात्कार, अपमान सहना, ठेकेदारों का क्रूर व्यवहार और बर्बर शोषण, जंगल से मिलने वाली आजीविका का खत्म हो जाना और जंगल के अंदर गांव के गांव का उजाड़ा जाना, यह सब आज आदिवासियों की जिंदगी का हिस्सा बन गया है। इनका सुख चैन छिन गया है। आदिवासियों की इस बरबादी के साथ जंगल भी बरबाद हुए। अपनी ही बनायी नीतियों से पैदा हुई समस्याओं को संभालने में अक्षम सरकार ने अब वनों के प्रबंध का और भी केन्द्रीकरण करने का फैसला किया। आपातकाल के दौरान जबकि लोक सभा के अधिकांश सदस्य जेलों में बंद थे संविधान में 42वां संशोधन लोकसभा पारित किया गया जिसके अनुसार वनों का नियंत्रण राज्य सरकार से केंद्र ने अपने हाथों में ले लिया। वन संरक्षण अधिनियम 1980 से जंगलों पर राज्य का नियंत्रण और भी बढ़ गया।

सरकार अपने नियंत्रण के पक्ष में यह तर्क देती है कि आदिवासी जंगलों का विनाश कर रहे हैं। यह वास्तविकता नहीं है। वास्तविकता यह है कि सरकारी नीतियों और कानूनों के माध्यम से भ्रष्ट वन अधिकारियों की सांठ-गांठ से अंधाधुंध कटाई करके व्यवसायी वर्ग जंगलों को बरबाद कर रहा है।

III
वन और व्यवसाय

सन् 1853 में भारत की पहली रेल लाइन थाना और बंबई के बीच बिछाई गयी। 1880 में भारत की पहली कोयला खदान रानीगंज, बंगाल में शुरू हुई। रेलवे के स्लीपरों के लिए और खदान में जमीन के अंदर खदान के ढांचे को संभालने के लिए मजबूत लकड़ी की जरूरत थी। इस पृष्ठभूमि में, 19वीं सदी के मध्य में ब्रिटिश सरकार का ध्यान जंगल के व्यवसायिक शोषण की ओर गया और उसने अपनी वन-नीति का एक आधार खोज लिया। तबसे लेकर आज तक जंगल की लकड़ी और दूसरे पैदावार की जरूरत औद्योगिक और व्यवसायिक क्षेत्रों में लगातार बढ़ती ही रही है। इसी जरूरत के मुताबिक जंगलों में व्यवसायिक स्वार्थों की घुस पैठ लगातार बढ़ती ही गयी। दूसरे महायुद्ध के दौरान जंगलों से ढेरों इमारती लकड़ी निकाली गयी, जिसमें जंगल के जंगल साफ कर दिए गए। महायुद्ध जब खत्म हुआ तो व्यवसायीकरण की यह निर्दय प्रक्रिया पूरे देश के जंगलों में अपने पंजे फैला चुका था।

जंगल में ऐसी कई चीजें मिलती हैं जिनका उपयोग तरह-तरह के उद्योगों में होता है। इस बढ़ते हुए व्यवसायीकरण की पूरी जानकारी दे पाना एक असंभव काम है। लकड़ी के उत्पादन, कुछ लघु वनोपज के उत्पादन, वन पर आधारित उद्योगों और वनों से प्राप्त बढ़ते हुए राजस्व के आंकड़ों से वनों के व्यवसायीकरण के बारे में कुछ जानकारी मिलती है। वनों का व्यवसायीकरण आज जंगल के सवाल का और आदिवासियों के सवाल का एक महत्वपूर्ण कारण बन गया है।

सरकार के राजस्व प्राप्त करने के कई तरीके हैं जैसे वन की पैदावार पर लेवी लगाना, कुछ व्यापारियों को वन की उपज इकट्ठा करने के अधिकारों की नीलामी करके, बड़े उद्योगपतियों को हजारों एकड़ जंगल पट्टे पर देकर और वन की उपज को स्वयं बिक्री करवाकर जंगल से सरकार का कुल राजस्व दूसरे महायुद्ध के बाद बढ़कर 1951 में 24 करोड़ हो गया था। हालांकि इस राजस्व में से एक हिस्सा नये जंगल लगाने में खर्च होता है लेकिन सभी खर्चों के बाद भी काफी धन बच जाता है। यह अतिरिक्त धन 1980-81 में 155 करोड़ रु० था जो 1950-51 में बचे धन से लगभग 11 गुना अधिक है।

लकड़ी वन की सबसे प्रमुख उपज है। भारत के लगभग 80% वनों में 2000 किस्म की लकड़ियां पायी जाती हैं केवल भवन निर्माण में ही 18 किस्म की लकड़ियों का उपयोग होता है। 11 किस्म की लकड़ियों का उपयोग मेज, कुर्सी, अलमारी, बक्से और केबिनेट आदि बनाने के काम आता है। जंगल से हर साल कितनी लकड़ी निकाली जाती है इसका सही आंकड़ा देना बहुत मुश्किल है। राष्ट्रीय कृषि आयोग ने 1966-67 के आस-पास बताया कि हर साल प्रति हेक्टर लगभग 0·31 घन मीटर लकड़ी जंगल से निकाली जाती है। पिछले तीन दशकों में औद्योगिक लकड़ी और जलावन की लकड़ी, दोनों का उत्पादन बहुत बढ़ गया (देखें, परिशिष्ट)। 1980 में औद्योगिक लकड़ी की कुल वार्षिक

आवश्यकता 250 लाख घन मीटर थी। जबकि 1979-80 के दौरान लकड़ी का कुल उत्पादन सिर्फ 135 लाख घन मीटर था। आवश्यकता और उत्पादन के इस अन्तर के कारण इमारती लकड़ी एक बहुत ही कीमती वस्तु बन गयी और इसलिए जंगल से लकड़ी की चोरियां बहुत बढ़ गयीं। महाराष्ट्र के बाजार में इस समय इमारती लड़की का एक ट्रक लगभग 30,000 रु० में बिकता है। लकड़ी की तस्करी करने वाला व्यवसायी 500 रु० मजदूरों को देता है, 5000 रु० ट्रक वाले को देता है और 5-7 हजार रु० रिश्वत के रूप में वन विभाग के अधिकारियों, पुलिस और स्थानीय राजनीतिज्ञों को देता है। इसके बाद भी वह प्रति ट्रक लगभग 15 हजार से 19 हजार रु० तक मुनाफा कमाता है। जंगल पर आधारित लगभग सभी उद्योगों में लकड़ी ही मुख्य कच्चा माल है। अकेले आसाम में वन पर आधारित ऐसे 380 उद्योग हैं जिनमें से 40 प्लाई वूड फैक्टरियां और 10 कागज बनाने के कारखाने हैं। कागज और कागज उद्योग मंडल का उत्पादन स्वाधीनता के बाद से आज तक तिगुना हो गया है। अखबारी कागज का उत्पादन 1948 में शून्य था, आज यह लगभग 34,000 टन प्रति वर्ष है। इसी दौरान प्लाई वूड फैक्टरियों की संख्या 4 से 95 हो गयी। इसी तरह लकड़ी के टुकड़ों व रेशों से बने बोर्डों का उत्पादन भी कई गुना बढ़ गया है। माचिस की डिब्बियों का उत्पादन प्रति वर्ष 10 लाख डिब्बियां बढ़ गया है और इसके कुल उत्पादन के लगभग 50% पर सिर्फ 2 विदेशी कम्पनियों, विमको और एमको, का स्वामित्व है।

जंगल से काटी गयी लकड़ी का एक हिस्सा जलावन के रूप में काम में लायी जाती है। भारत के लगभग 90% लोग खाना बनाने के लिए लकड़ी और गोबर के गोइठे का उपयोग करते हैं।

लकड़ी काटना और उसके टुकड़े करना जंगल में होने वाले उत्पादन में दो मुख्य काम हैं। लकड़ी काटने के औजार अधिकतर परम्परागत होते हैं। लकड़ी काटने के इस काम में बहुत लोगों को रोजगार मिलता है। ऐसी जगहों पर आमतौर पर दलाल लोग दूर-दूर से मजदूर लाते हैं और उनका अधिकतम शोषण करते हैं। उदाहरण के लिए नेपाली मजदूरों को गढ़वाल के इलाके में और गढ़वाल के मजदूरों को हिमाचल प्रदेश में रोजगार दिया जाता है। सरकार भी जंगल के अन्दर जंगली गांव के नाम से पुकारे जाने वाले गांवों में ऐसे मजदूरों के शिविर लगाती है। इन गांवों में रहनेवाले मजदूरों को खेती के लिए थोड़ी सी जमीन पट्टे पर दी जाती है लेकिन उन्हें कभी भी इन पट्टों के कागज नहीं दिये जाते हैं। जंगल में आनेवाले ठेकेदारों का या वन विभाग का इन मजदूरों पर पहला अधिकार होता है। वन विभाग और ठेकेदारों की मर्जी के बिना ये मजदूर किसी दूसरी जगह मजदूरी नहीं कर सकते। आजकल धीरे-धीरे लकड़ी काटने के काम में भी मजदूरों को हटा कर मशीनों का इस्तेमाल किया जा रहा है और पश्चिम बंगाल इसमें सबसे आगे है।

इमारती लकड़ी को छोड़कर जंगल की बाकी सभी पैदावार लघु वन उपज या छोटी पैदावार के रूप में जानी जाती है। इसमें रेशे और फर आते हैं जिनसे रस्सी बनती है, साल, महुआ, कुसुम और करंज के बीज, जिनसे तेल निकाला जाता है, हर्रा और बहेड़ा जो रंग

बनाने और चमड़ा कमाने में काम आता है, जड़ी-बूटियां, जिनसे औषधि, जहर और कीट-नाशक दवाइयां बनती हैं, रेसिन जिससे तारपीन का तेल, वार्निश और पेंट बनता है, लाह और गोंद, पान का कत्था और केंदू के पत्ते जिनसे बीड़ियां बनती हैं। जंगल की ये सारी पैदावार जंगल में और जंगल के आस-पास रहने वाले स्थानीय लोगों की आजीविका के स्रोत हैं। अब इन सारी पैदावार पर सरकारी वन विभाग और व्यवसायियों ने अपना नियंत्रण कर लिया है। विशाल फैले जंगल के अन्दर इन चीजों को जमा करने का नीरस और लम्बा काम स्थानीय लोगों के सस्ते श्रम से कराया जाता है। स्थानीय लोग अब इन चीजों का उपयोग अपने परम्परागत उद्योगों में बहुत कम कर पाते हैं। स्थानीय लोगों से जमा करायी गयी जंगल की यह सारी पैदावार कच्चे माल के रूप में दूर-दूर के शहरों में भेज दी जाती है, जहां उनसे औद्योगिक माल तैयार किया जाता है। जंगल की इन समस्त छोटी-छोटी उपजों का लाभ स्थानीय लोगों को नहीं मिलता, वह मिलता है पूंजीपतियों को, ठेकेदारों, व्यापारियों, बीच के दलालों और सरकारी विभागों को। उदाहरण के लिए मध्य प्रदेश में आदिवासियों को एक क्विंटल साल के बीज जमा करके व्यापारी को पहुंचाने के सिर्फ 50 रु० मिलते हैं और वह व्यापारी प्रति क्विंटल पर सरकार को 30 रु० रायल्टी चुका कर उसी बीज को बाजार में 250 रु० प्रति क्विंटल के दर से बेचता है। यह तो हुआ व्यापारी का मुनाफा। सरकारी वन विभाग भी पीछे नहीं है। वन विभाग का 30% राजस्व जंगल से जमा की गयी ऐसी छोटी पैदावार से आता है।

पिछले 30 वर्षों में जंगल की उपज का यह व्यवसायीकरण लगातार बढ़ता गया है लेकिन पर्यावरण के संरक्षण और गरीब स्थानीय आदिवासियों की आर्थिक और सामाजिक जिंदगी की सुधार से इसका कुछ भी लेना-देना नहीं है। सैकड़ों किस्म की संस्थाएं स्थानीय लोगों का भयंकर शोषण करके और उनके जीवन और जंगल के प्रति किसी भी गम्भीर दृष्टिकोण के बिना अपना-अपना व्यापार चला रही हैं।

वन की उपज को जमा करने के लिए वन विभाग या तो खुद मजदूर लगाता है या सहकारी समितियों अथवा वन विकास निगम से काम कराता है। अधिकतर मामलों में वह एजेंट या ठेकेदारों को बीच में रखता है। राज्य सरकार भी कुछ बड़े उद्योगपतियों को बड़े-बड़े जंगल पट्टे पर देती है। उदाहरण के लिए, आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में राज्य सरकारों ने बांस के जंगल बिड़ला को पट्टे पर दिये हैं। केरल के आरक्षित जंगलों का कुछ क्षेत्र ग्वालियर रेयान वालों को पट्टे पर दिया गया है। ये बड़ी कम्पनियां दूसरे ठेकेदारों को ठेके देकर अपना काम करवाती हैं। जंगल विभाग भी वन की उपज जमा करने के लिए जंगल के क्षेत्र ठेकेदारों को नीलाम कर देता है। कई राज्यों में केंदू के पत्ते इसी तरह से इकट्ठे किये जाते हैं। सरकार के अन्य विभाग और निगम भी जंगलों में अपने-अपने पैर जमाये हुए हैं। मध्य प्रदेश के बैला डेल्ला के जंगल क्षेत्र में खनिज एवं धातु व्यापार निगम (मिनरल एण्ड मेटल ट्रेडिंग कारपोरेशन) वहां की खदानों से लौह-अयस्क निकालता है। इस तरह उत्पादन तो सरकारी निगम के नाम पर होता है लेकिन व्यवहार में काम ठेकेदारों को ठेके देकर करवाया जाता है। ये ठेकेदार अनियत (कैजुअल) मजदूरों को रखकर काम करवाते हैं। बिहार के हजारीबाग के जंगलों में कई ठेकेदार वन विभाग से सांठगांठ कर गैर कानूनी खदान चलाते हैं।

जंगलों में ठेकेदार सर्वव्यापी हैं। आप जहां भी जाइये, ये आप को मिलेंगे। 1961-62 में आदिवासियों और हरिजनों की समस्याओं की जांच करने के लिए सरकार ने ढेबर आयोग बैठाया था। आयोग ने आदिवासी इलाकों में, जंगल के ठेकेदारों के बारे में अपनी रिपोर्ट में लिखा : "ठेकेदार आदिवासियों का बे रोक-टोक शोषण करने वाले शोषक बन गये हैं। उन्होंने कानून भी अपने हाथों में ले लिया है। जंगल विभाग के अफसरों के साथ उनकी सांठ-गांठ रहती है। नियम-कानूनों से अनजान आदिवासी पूरी तरह से इनकी दया पर आश्रित होते हैं। ठेकेदार चाहे तो उन्हें काम दे सकता है और चाहे तो इनकार कर सकता है। वह चाहे तो आदिवासियों द्वारा एकत्रित वन की उपज खरीद लेगा और न चाहे तो खरीदने से इनकार कर देगा। वह सरकारी कानूनों की व्याख्या अपने ढंग से करता है। ठेकेदारी प्रथा जंगलों पर खुली इजारेदारी की तरह काम करती है…।" वन-नीति बनाने वालों से ठेकेदारों को जो मदद मिलती है, वह तो है ही, इसके अलावा, सरकार भी अपने प्रशासनिक ढांचे के द्वारा इनकी खूब मदद करती है। सरकार के शायद ही किसी और विभाग में इतना भयंकर भ्रष्टाचार होगा जितना वन-विभाग में है। नाजायज तरीकों से कमाये गये अपने मुनाफे का कुछ हिस्सा ठेकेदार वन विभाग और पुलिस के अधिकारियों का मुंह बन्द कर देने में खर्च कर देते हैं। चुनाव के समय ये ही ठेकेदार अपनी मदद करनेवाले राजनीतिक प्रत्याशी के लिए अपना पैसा और शक्ति लगा देते हैं ताकि जंगलों को लूटने से उन्हें रोकने-टोकने वाला कोई न हो और जायज-नाजायज हर हालत में उन्हें राजनीतिक संरक्षण प्राप्त हो। इस तरह जंगल और आदिवासियों के भयंकर शोषण का यह चक्र पूरा होता है।

जनता के दबाव के कारण कुछ वर्ष पहले सरकार ने ठेकेदारी प्रथा समाप्त करने की दिशा में कुछ कदम उठाये। 1976 में ठेकेदारों को जंगल के ठेके न देने का निर्णय हुआ था "ताकि राज्य सरकार को ज्यादा राजस्व प्राप्त हो सके और मजदूरों को सही मजदूरी प्राप्त हो सके।" लेकिन अभी तक केवल 4 राज्य सरकारों ने ही इस फैसले का आंशिक रूप से पालन किया है। अगर यह फैसला पूरी तरह से लागू कर भी किया जाये तब भी जंगल की समस्या बहुत कम हल होगी क्योंकि गैर सरकारी कम्पनियों पर यह कानून लागू नहीं होता। इसके अलावा जंगल विभाग, सरकारी समितियां और वन विकास मण्डल, सभी वन की उपज जमा करवाने का काम अपने एजेंटों से करवाते हैं। इससे साफ पता चलता है कि जंगलों में से न तो ठेकेदार निकले हैं और न तो ठेकेदारी प्रथा खतम हुई है, सिर्फ नाम बदल गये हैं। विडंबना यह है कि आंशिक राष्ट्रीयकरण की इस नीति से दलालों और वन विभागों के अफसरों के सम्बन्ध और भी वैध हो गये हैं। सरकार ठेकेदारी प्रथा समाप्त करने के लिए आज भी एक दस वर्षीय कार्यक्रम के बारे में सोच रही है। सचाई यह है कि व्यापार को अपने हाथों में लेने का अधिकार आ जाने से राजनीतिज्ञों के लिए पैसा बनाने का एक और रास्ता खुल गया है। इसलिए बहुत हल्ले-गुल्ले के साथ शुरू किया गया वन उपज के व्यापार का सरकारीकरण जनता के साथ एक क्रूर मजाक-

सा बन कर रह गया। सरकारीकरण की पहल सबसे पहले आंध्र प्रदेश ने की थी। और 1967-68 के आस-पास जंगल वाले क्षेत्र (श्रीकाकुलम, पार्वतीपुरम) में कई अन्य मुद्दों के साथ-साथ गिरिजन सहकारी समितियों के विरोध में सबसे तीव्र आदिवासी विद्रोह भी इसी आंध्र प्रदेश में हुआ।

जंगल की समस्या न तो ठेकेदारी प्रथा खतम करने से होगी, न सरकारी समितियां खड़ी कर देने से, क्योंकि जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई और आदिवासियों के शोषण का सबसे बुनियादी कारण ठेकेदार नहीं है। वे ठेकेदार तो जंगल के व्यवसायीकरण की प्रक्रिया के सिर्फ लक्षण और माध्यम हैं। जंगल की समस्या का मूल कारण व्यवसायीकरण है जिसका एकमात्र उद्देश्य मुनाफाखोरी है। यह व्यवसायीकरण चाहे जिस भी रूप में सामने आये, इसकी अनियंत्रित मुनाफाखोरी ही जंगलों के विनाश के लिए जिम्मेदार है। पर्यावरण के सुरक्षा की कोई परवाह न करनेवाली और स्थानीय जनता के हितों की जरा भी चिन्ता न करनेवाली यह मुनाफाखोरी ही हमारे देश के जंगलों की बरबादी और आदिवासियों के सामाजिक और आर्थिक जीवन की तबाही का मूल कारण है।

IV
जंगल और आदिवासी

हमारे देश की चार करोड़ आदिवासी जनता का बहुसंख्यक भाग अपनी आजीविका के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जंगल पर निर्भर करता है। अपने खेतिहर औजारों के लिए वे जंगल से लकड़ी लेते हैं। कुछ थोड़े से कबीले जंगल के अंदर झूम खेती करते हैं। आदिवासी जंगलों से तेल के बीज, फल, पत्तियां, कन्द-मूल, शहद, शिकार और मछली आदि भोजन के पदार्थ प्राप्त करते हैं। वे जंगल की लकड़ी और बांस से अपने घर और बाड़े बनाते हैं; जंगल की छोटी-मोटी चीजों से कुछ घरेलू उद्योग चलाते रहते हैं; जड़ी-बूटियों से औषधि तैयार करते हैं और चोप की रस्सियां बनाते हैं। कुछ वृक्षों को वे पवित्र मानते हैं, जिनके नीचे वे अपने देवताओं की पूजा करते हैं। शाल पत्तों पर भोजन और पूजा का प्रसाद रखते है ओर जंगल के फूलों-पत्तों से ही आदिवासी लड़के-लड़कियां अपना शृंगार करते हैं। इस तरह आदिवासियों का आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन सदियों से जंगल से जुड़ा हुआ है, जंगल से उनका यह सम्बन्ध उनके जीवन के दर्शन को व्यक्त करता है।

भारत में सैकड़ों आदिवासी जातियां रहती हैं: नागा, मिजो, लूशई, मेइती और डफला तथा लेपचा, खासी आदि जातियां उत्तर और उत्तर-पूर्वी सीमान्तों पर रहती हैं; संथाल गोंड़, कंध, मुंडा, भील, मीणा, उरांव, खडिया आदि जातियां मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा राजस्थान आदि में रहती हैं; वरली, चेंचू, कादर, पनियान,गडवा, टोड़ा आदि जातियां

दक्षिण भारत के केरल, कर्नाटक, आंध्र, तमिलनाडु और महाराष्ट्र में रहती हैं। भारत में आदिवासियों की संख्या भारत की कुल जनसंख्या का 7.5 प्रतिशत है।

जंगलों में और पहाड़ों पर रहने वाली ये आदिवासी जातियां सदियों से स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन बिताती आयी हैं। प्राचीन और मध्य काल में दूसरी जातियों के साथ इनका सामाजिक-सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता रहा, लेकिन इससे उनकी स्वतन्त्रता समाप्त नहीं हुई। 18वीं, 19वीं शताब्दी में अंग्रेज उपनिवेशवादी इनके शासक बनकर आये और उन्होंने आदिवासी इलाकों को अपने सामान्य प्रशासन के नियमों से अलग नियमों के आधीन रखने की नीति चलायी। 1832 में छोटा नागपुर में कोल विद्रोह के तुरन्त बाद अंग्रेजों ने आदिवासी इलाकों को "नन-रेगुलेटेड" क्षेत्र घोषित किया। बाद में आदिवासी इलाके "एजेंसी" इलाके कहलाये। उसी नीति के मेल में भारत सरकार उन्हें "शेड्यूल एरिया" में रखती है।

स्वतन्त्र भारत के संविधान के धारा 342 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह किसी भी समुदाय को अनुसूचित जनजाति घोषित कर सकता है। जिन्हें हम आदिवासी कहते हैं वे इन्हीं अनुसूचित जनजाति के लोग हैं। किस समुदाय को अनुसूचित जनजाति घोषित किया जाय, यह तय करने का कोई साफ-साफ सिद्धान्त नहीं हैं। कोई समुदाय किसी एक राज्य में अनुसूचित जनजाति माना गया है लेकिन वही समुदाय दूसरे राज्य में अनुसूचित जनजाति नहीं माना जाता। कहीं-कहीं तो एक ही राज्य के अंदर भी इस तरह की विसंगति है। भारत के संविधान में पांचवीं अनुसूची के अनुसार अनुसूचित क्षेत्रों और छठी अनुसूची के अनुसार उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों के आदिवासी इलाकों के लिए खास तरह के प्रशासन और नियंत्रण का प्रावधान है।

जब से आदिवासी इलाके आधुनिक प्रशासन के नियन्त्रण में आ गये, जो उनके लिए एक अजनबी है और जब से आदिवासी इलाके आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत आ गये जो उनकी परम्परागत समाज व्यवस्था ये बिलकुल भिन्न चीज है, तब से आदिवासी इलाकों में बहुत-सी समस्याएं खड़ी हो गयीं। सूदखोर महाजनों ने उन्हें अपने चक्रवृद्धि ब्याज के चक्कर में फंसाकर उनकी संपत्ति लूट ली और उनके खेत बंधक रखवा लिए। वन विभाग और आधुनिक प्रशासन के साथ आदिवासी इलाकों में बाहर से आये लोगों ने अपनी चालाकी और सत्ता की सांठ-गांठ से उनकी जमीनें हथिया लीं। बाहर के व्यापारियों और पूंजीपतियों ने उनके कच्चे माल और बाजारों पर नियंत्रण कायम कर लिया और सरकार के औद्योगीकरण ने आदिवासियों को बड़ी संख्या में उनके सदियों पुराने बसेरों से उजाड़ दिया। इन सबके बदले में आदिवासियों को जो दिया गया वह उनकी अस्तित्व की रक्षा के लिए बहुत कम था और भोंड़ा और विकृत था। आदिवासी समाज के इस विघटन को राष्ट्रीय विकास की प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम मानकर टाला नहीं जा सकता। बहुत-सी समस्याओं से बचा जा सकता था और बहुत-सी समस्याओं की तीव्रता को कम किया जा सकता था यदि सरकार उनके प्रति सही नीतियां और कार्यक्रम अपनाती और अपने घोषित इरादों के प्रति ईमानदार बनी रहती।

सरकार "आदिवासियों के उत्थान" के लिए कई योजनाएं और कार्यक्रम बनाती रही है।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में सरकार ने आदिवासी प्रखण्डों के विकास की योजना शुरू की। जिसमें कुछ चुने हुए आदिवासी प्रखण्डों में बहुत सारे विकास कार्यक्रम शुरू करने की योजना थी। पिछले 30 सालों में ऐसे प्रखंडों की संख्या 43 से बढ़कर 500 हो गई। चौथी पंचवर्षीय योजना में आंध्र प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा के कुछ चुने हुए क्षेत्रों के लिए अलग से आदिवासी विकास एजेंसियां बनाई गयीं। इसी तरह उत्तरप्रदेश और मणिपुर के कुछ क्षेत्रों के लिए पर्वतीय क्षेत्र विकास एजेंसियां बनायी गयीं। पांचवी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत 178 चुने हुए आदिवासी क्षेत्रों के विकास के लिए एक सह-योजना "एकीकृत आदिवासी विकास परियोजना" के नाम से बनायी गयी। इसके अलावा, लगभग 50 चुनी हुई आदिवासी जातियों के लिए और खदानों और फैक्टरियों के क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों के लिए खासतौर से योजनाएं बनायी गयीं। हर पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत आदिवासियों के विकास के नाम पर करोड़ों रुपया खर्च किया गया। लेकिन इन योजनाओं का असर क्या हुआ, इसका पता लगाने के लिए एक भी सही ढंग का अध्ययन नहीं हुआ। यहां एक बात और ध्यान देने लायक है कि आदिवासी विकास कार्यक्रमों और वन-विकास कार्यक्रमों के बीच आपस में कभी कोई सम्बन्ध नहीं होता। ये दोनों विकास कार्यक्रम दो अलग-अलग मंत्रालयों के अधीन चलते हैं जिनका आपस में कोई संपर्क या तालमेल नहीं होता और कभी-कभी तो वे एक दूसरे की विरोधी दिशा में जाते दिखायी देते हैं। सारी विकास योजनाओं के होते हुए भी आदिवासियों की जमीन, साहुकारी, ठेकेदारी प्रथा, कम मजदूरी, बेरोजगारी, औद्योगिक करण के कारण विस्थापन और जंगल पर उनके अधिकारों का दमन, इत्यादि समस्याएं लगातार बढ़ती ही रहीं और इसी कारण बहुत स्वाभाविक रूप से आदिवासियों के आन्दोलन उठ खड़े हुए।

अधिकांश आदिवासी किसान हैं। उनकी अधिकतर जमीन ऊबड़-खाबड़ और कम उपजाऊ है। उनके पास सिंचाई के साधनों की कमी हैं। आदिवासी इलाकों में सिंचाई वाली जमीन सिर्फ 1 से 5 प्रतिशत तक है जबकि भारत में कुल सिंचित क्षेत्र लगभग 25 प्रतिशत है। आदिवासियों की समस्या उनका भूमिहीन होना नहीं है। बल्कि भूमि से उनका बेदखल होना और उनका स्वामित्व कायम न होना है। सरकार ने आदिवासियों की भूमि समस्या का हल करने के लिए कानून बना रखे हैं लेकिन भूमि सुधार सम्बन्धी ये कानून आदिवासी क्षेत्र में भी उतने ही असफल रहे जितने अन्य क्षेत्रों में। आदिवासियों की भूमि समस्या अन्य जगहों की समस्या से कुछ अलग है। आदिवासी इलाकों में अधिकतर जमीन पर सामुदायिक स्वामित्व होता था। जिन जगहों पर निजी स्वामित्व था वहां हर आदिवासी की अपनी जमीन होती थी। कर्ज के बोझ और गरीबी के कारण पहले तो लोगों ने अपनी जमीनें बंधक रखीं और फिर धीरे-धीरे उनसे हाथ धो बैठे। वे महाजनों और पैसेवाले जमींदार के बंधुआ मजदूर बन गये। इसीलिए आदिवासियों की बहुत सी समस्याएं आपस में मिली-जुली हैं। सामान्य भूमि-सुधार कानून लागू करने में इन सबको एक साथ ध्यान में कभी नहीं रखा गया। कुछ स्थानों पर भूमि वितरण से जो जमीन इनको दी गयी वह भूमि बहुत ही बेकार और उबड़-खाबड़ थी और बिना पर्याप्त बाहरी

मदद के ऐसी भूमि पर खेती कर पाना और उसे अपने कब्जे में बनाये रखना असंभव था। बाहर वालों ने जैसे-जैसे जंगलों में घुसना शुरू किया वैसे-वैसे लगातार आदिवासियों की जमीनें छिन रही हैं। लगभग हर राज्य में इस प्रक्रिया को रोकने के लिए कानून बनाये गये हैं पर ये कानून आदिवासियों की जमीन की रक्षा करने में असफल साबित हुए हैं। कानून में कमजोरी भी इसका एक बड़ा कारण है। उदाहरण के लिए छोटा नागपुर टेनेन्सी एक्ट, जो आदिवासियो की जमीन की रक्षा के लिए है, कम से कम 12 ऐसे प्रावधान पेश करता है जिनसे आदिवासियों से उनकी जमीनें ले ली जा सकती हैं।

साहूकारों, ठेकेदारों, व्यापारियों और सरकारी कर्मचारियों ने मिलकर आदिवासियों के शोषण को चरम सीमा तक पहुंचा दिया है। मध्यप्रदेश के शहडोल जिले में आदिवासी महुआ के मौसम में दो महीनों तक महुआ के फूल बटोरते हैं और अपनी अत्यधिक गरीबी और जरूरत के चलते उन्हें ये फूल व्यापारियों के पास 25 पैसे प्रति किलो की दर से बेच देने पड़ते हैं। मौसम बीत जाने पर अपनी जरूरत के लिए उन्हें ये ही फूल व्यापारियों से 1.50 प्रतिकिलो के हिसाब से खरीदने पड़ते हैं। सरकार ने आदिवासियों पर अपने और अपने परिवार के लिए शराब बनाने पर तो प्रतिबन्ध लगा दिया है लेकिन उनके इलाकों में व्यापारियों को लाखों रुपये के शराब के ठेके दे दिये हैं।

जब रोजगार या मजदूरी की बात आती है तब भी आदिवासी ही मारा जाता है। कर्ज के बोझ से दबे होने के कारण उसे साहूकार के दुकान, खेत या घर में बंधुआ मजदूर की तरह काम करना पड़ता है। ठेकेदार सरकार के श्रम कानूनों को ताक पर रखकर हर तरह से उनका बर्बर शोषण करते हैं। श्रम अदालतें इन आदिवासी मजदूरों के हितों की रक्षा नहीं कर पातीं। जो आदिवासी सरकारी परियोजनाओं में काम करते हैं उनकी भी हालत बहुत अच्छी नहीं है क्योंकि बहुत कम को न्यूनतम मजदूरी मिलती है। सरकार ने जंगल में काम करने के लिए न्यूनतम मजदूरी कानूनन बहुत कम तय कर रखी है, जैसे यह बिहार में 5 रु० प्रति दिन है। यह मजदूरी भी उन्हें पूरी नहीं दी जाती। 1978 में राज्य सरकारों ने कहा कि जब तक केंद्र से मदद नहीं मिलती, राज्य सरकारें जंगल में न्यूनतम मजदूरी देने में सक्षम नहीं हो सकतीं। आदिवासियों को सही मजदूरी न देने के साथ-साथ सरकार ने जंगल के भीतर जंगली गांव के नाम से शिविर बना रखे हैं जहां जंगल के अंदर काम करने वाले आदिवासी सरकार के बंधुआ मजदूर की हैसियत से रहते हैं।

हमारे देश में ज्यादातर खनिज धातु और औद्योगिक संपदा जंगलों और आदिवासी इलाकों में पायी जाती है। यह संपदा, जिसे खुशहाली लेकर आना चाहिए, आदिवासी के लिए एक अभिशाप साबित हो रही है। आदिवासी इलाकों में बड़े पैमाने पर खदानों और कारखानों के खुलने से लाखों-लाख आदिवासी अपनी जमीनों से उजड़ गये और अपना क्षेत्र छोड़कर इधर-उधर भागना पड़ रहा है। इन कारखानों को पानी देने के लिए और सिंचाई के नाम पर जो बड़ी-बड़ी परियोजनाएं बनीं उनसे भी लाखों आदिवासी अपने गांवों से बिस्थापित हो गये। देश की लगभग 60 प्रतिशत औद्योगिक संपदा और खनिज धातु छोटा नागपुर और सटे हुए इलाकों में है। जो देश का सबसे बड़ा आदि

वासी क्षेत्र है। पिछले 30 वर्षों में औद्योगीकरण ने छोटा नागपुर के 6 लाख आदिवासियों को उनकी जमीनों से विस्थापित कर दिया। इनमें से कुछ को तो दोबारा बसाया गया पर अधिकांश बिलकुल निराश्रित और बेसहारा हो गये। आदिवासियों से ली गयी जमीन पर जब उद्योग-धन्धे शुरू किये जाते हैं तब विस्थापित आदिवासियों को उनमें काम नहीं के बराबर दिया जाता है हालांकि जमीन लेने से पहले उन्हें रोजगार देने का आश्वासन दिया जाता है। विस्थापित आदिवासियों को अगर कुछ काम मिलता भी है तो सिर्फ ठेकेदार के मजदूरों के रूप में, जहां उनसे सस्ती मजदूरी में कठोर काम करवाये जाते हैं। आदिवासियों को विस्थापित कर उनकी जमीन पर जो उद्योग-धन्धे खड़े किये जाते हैं उनमें अधिकांश नौकरियां बाहर के लोगों को दी जाती हैं जो स्थानीय आदिवासियों को नीची नजर से देखते हैं। आदिवासी इलाकों में औद्योगीकरण के इन घातक प्रभावों और आदिवासियों के साथ होने वाले अन्यायों की चर्चा अनुसूचित जाति और जनजाति के आयुक्त की हर वार्षिक रिपोर्ट में होती है जिसे सरकार लोकसभा में पेश करती है। इसके बावजूद इनके रोकथाम की कोई गम्भीर कोशिश नहीं की जाती क्योंकि निहित स्वार्थ बहुत प्रबल हैं। इसीलिए आदिवासी इलाकों में सरकारी विकास परियोजनाओं का अर्थ आदिवासी सिर्फ अपनी और अधिक तबाही समझने लग गये हैं।

विकास की इस प्रक्रिया ने आदिवासी समुदायों की भाषा, धर्म, संस्कृति, परम्परागत अर्थ व्यवस्था और उनके व्यक्तित्व पर बहुत योजनाबद्ध तरीके से लगातार चोट पहुंचायी है। कुछ आदिवासी समुदाय बाहर के लोगों अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व पर हो रहे इन आक्रमणों के प्रति बहुत सजग हो गये हैं। उनके प्रति प्रशासन की उदासीनता, तिरस्कार और सौतेले व्यवहार के कारण आज की परिस्थितियों में आदिवासियों के पास अपने सामाजिक अस्तित्व को बचाने के लिए संगठित होकर संघर्ष करने के अलावा कोई चारा नहीं रह गया।

V

जंगल और जन-आन्दोलन

जंगल हमेशा से हर सरकार के खिलाफ जन आन्दोलन के गढ़ रहे हैं। जंगल में, जिसे आदिवासी अपना प्रदेश समझते हैं, आदिवासियों का असन्तोष और विरोध समय-समय पर सशस्त्र विद्रोह के रूप में फूटता रहा है। वास्तव में, शासक वर्ग ने आदिवासियों पर जब भी ध्यान दिया तो आदिवासियों के इन विद्रोहों के कारण ही दिया। अकसर आदिवासियों को समाज का "कमजोर तबका" कहा जाता है। यह एक बिलकुल उदारतावादी मिथ्या धारणा है। जिस तरह की कठिन परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए वे जीते हैं वैसा तो केवल वीर जातियां ही कर सकती हैं। इतना ही नहीं जन आंदोलनों में अगुआ होकर अकसर उन्होंने हमारे इतिहास की दिशा को मोड़ा है। पराधीन भारत में अंग्रेजी उप-

निवेशवाद के खिलाफ जंगल के आदिवासियों ने एक के बाद एक लगातार सशस्त्र आंदोलन चलाया। छोटा नागपुर का कोल विद्रोह, उत्तर-पूर्व में नागाओं का विद्रोह, दमिन-ई कोह में संथाल विद्रोह, रांची-सिंहभूम में बिरसा आंदोलन, आन्ध्र का कोया विद्रोह, बस्तर में गोंडों का विद्रोह, केरल में कुरचिया विद्रोह, उड़ीसा में कंधों का विद्रोह और अदिलाबाद में बाबेझारी का विद्रोह, अंग्रेजी उपनिवेशवाद के खिलाफ भारत के आदिवासियों के स्वाधीनता संग्राम के शृंखला की कड़ियां हैं। स्वाधीनता के बाद भी आदिवासियों के संघर्ष की यह परम्परा उत्तर-पूर्वी सीमांत में नागा, मिजो के विद्रोह, बिहार में झारखंड आंदोलन, महाराष्ट्र में वरली आदिवासियों की लड़ाई, आन्ध्र के श्रीकाकुलम में सवरा और जटपु आदिवासियों के सशस्त्र संघर्ष और पश्चिम बंगाल में नक्सलवाड़ी किसान के रूप से जारी रही।

इस समय देश के कम से कम 6 हिस्सों में जंगलों में रहनेवाले आदिवासी अपनी अलग-अलग मांगों को लेकर आन्दोलन चला रहे हैं जिनकी ओर जंगल और आदिवासियों की समस्या में दिलचस्पी रखने और जनवादी मूल्यों में आस्था रखनेवालों का ध्यान जाना स्वाभाविक है।

उत्तर-पूर्वी सीमान्त : देश को स्वतन्त्रता मिलने के बाद से ही नागा लोग भारत से अलग होने की मांग को लेकर सशस्त्र विद्रोह करते आ रहे हैं। 60 के दशक में मिजो और 70 के दशक में मेइतेई आदिवासी भी अलगाव के लिये इस आन्दोलन में शामिल हो गये। समस्या कितनी गम्भीर है और आन्दोलन को कितना भारी जन समर्थन प्राप्त है, इसका पता इस बात से चलता है कि कई वर्षों से वहां की सरकारी दमन और अत्याचार और नेताओं को फुसलाने की कोशिशों के बावजूद ये आन्दोलन दबाये नहीं जा सके। विद्रोही नेताओं और सरकार के बीच कई बार समझौते हुए, जिनके साथ भूमिगत कार्यकर्ताओं ने आत्म समर्पण भी किया। लेकिन ये सब समझौते सिर्फ कागज पर रह गये और आन्दोलन जारी रहा। आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने आदिवासियों पर दमन और अत्याचार की नीति अपनायी। अशान्त क्षेत्र कानून (डिस्टर्ब्ड एरिया एक्ट) के अन्तर्गत सरकार ने अभूतपूर्व अधिकार हथिया लिये। ऐसे क्षेत्र जिन्हें अशान्त घोषित किया गया व्यवहार में फौजी शासन के कब्जे में सौंप दिये गये। सैकड़ों सैनिक और अर्धसैनिक टुकड़ियां आज वहां की जनता पर हिंसा और जुल्म ढा रही हैं। नागरिक प्रशासन और अदालतों की जगह सैनिक प्रशासन और अदालतों का राज चल रहा है। लोगों को उनके घरों से उजाड़कर कुछ खास बनायी बस्तियों में घेर कर रखा गया है। हकीकत में ये बस्तियां जेल जैसी हैं। इस दमन चक्र में कई हजार लोग कैद कर लिए गये। उन्हें तरह-तरह की यातनायें दी गयीं। उनके घर-बार उजाड़ दिये गये कइयों को अपंग बना दिया गया और कितनों को जान से मार डाला गया। नागालैण्ड की जनता के संविधानिक, जनतान्त्रिक अधिकारों जो खत्म कर दिया गया। साथ ही, उनके जिन्दा रहने और स्वाधीन रहने के मौलिक अधिकार को छीन लिया गया। नागालैण्ड को भारतीय संविधान के अंतर्गत बनाये रखने की कोशिश में सरकार ने उनके सभी संविधानिक अधिकारों को कुचल दिया है।

अदिलाबाद : आन्ध्रप्रदेश-महाराष्ट्र के सीमा क्षेत्र में वहां के गोंड और दूसरे आदिवासियों ने एक व्यापक आंदोलन छेड़ रखा है। हैदराबाद निजाम की रियासत से हटकर जबसे यह जिला भारतीय गणराज्य में शामिल हुआ तबसे वहां व्यवसायिक लाभ के लिए जंगलों का बड़े पैमाने पर शोषण हो रहा है। सागवान और बांस के घने जंगलों में व्यापारियों और बड़े उद्योगपतियों ने अपना अड्डा जमा लिया है। राज्य सरकार इन जंगलों से हर वर्ष 20 करोड़ रुपये कमाती है। पिछले 20 वर्षों में डेढ़ लाख एकड़ जंगल को व्यापारियों के निजी मुनाफे के हित में आरक्षित वन क्षेत्र में से निकाल कर काट डाला गया। इस पूरी प्रक्रिया में आदिवासियों का भारी शोषण हुआ और उनकी जमीनें छीन ली गयीं। अब उनकी जमीनों पर महाराष्ट्र और आंध्र से आये साहूकारों और व्यापारियों ने कब्जा जमा लिया है। आदिवासियों को भारी ब्याज पर कर्ज देने से शुरू करके अब वे उनकी जमीनों के मालिक बन बैठे हैं। अपनी जमीनों से लगातार बेदखल होने के कारण आदिवासी जंगल क्षेत्र की जमीन साफ करके खेती करने को मजबूर हुए। और इस मामले में सरकार के साथ उनका विरोध पैदा हो गया। 1978 से एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी ग्रुप से संबंधित आदिवासियों का एक संगठन "गिरिजन रैतु कूलि संघम" उभरने लगा। यह संगठन पड़ोस के चांदा जिले (महाराष्ट्र) के सिरोंच ताल्लुक में भी फैल गया। इस बढ़ते हुए आंदोलन को दबाने के लिए वहां सशस्त्र पुलिस भेजी गयी जिसने आदिवासियों पर भारी दमन किया और भारी संख्या में उन्हें गिरफ्तार कर लिया 1981 के 20 अप्रैल को संघम की एक सभा पर पुलिस ने गोली चलायी। सरकारी सूत्रों ने कहा कि पुलिस की गोली से 13 आदिवासी मारे गये। लेकिन पी० यू० डी० आर० (पीपुल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राइट्स) के एक अध्ययन दल ने घटनाओं की व्यापक जांच के बाद बताया कि पुलिस की गोली से 60 व्यक्ति मारे गये थे। अदिलाबाद में आदिवासियों का आंदोलन और उनको दबाने के लिए पुलिस का दमन-चक्र, दोनों आज भी जारी है।

चिपको : अप्रैल 1973 में उत्तर प्रदेश की सरकार ने इलाहाबाद की खेल-कूद का सामान बनानेवाली एक कंपनी को गढ़वाल के जंगल क्षेत्रों में एश पेड़ों को काटने का अधिकार दे दिया। इससे पहले ठीक इन्हीं पेड़ों को काटने के अधिकार के लिए गोपेश्वर नामक स्थान की एक ग्रामीण लघु उद्योग समिति ने बैलों के जुए बनाने के उद्देश्य से सरकार से आवेदन किया था, जिसे सरकार ने ठुकरा दिया था। इस इलाके में एश की हल्की और टिकाऊ लकड़ी से बैल जोतने के जुए सदियों से बनाये जाते रहे हैं। अब उससे क्रिकेट के बल्ले भी बनने लगे हैं। एश की लकड़ी काटने का अधिकार जब सरकार ने स्थानीय जनता को न देकर इलाहाबाद की खेल-कूद कंपनी को दिया तो गांव वालों ने इसका विरोध किया। जब कंपनी के ठेकेदार पेड़ काटने के लिए गढ़वाल के जंगल में आये तो गांव वाले दौड़कर पेड़ों से चिपक गये। जल्द ही यह विरोध एक आंदोलन के रूप में पूरे इलाके में फैल गया और "चिपको आंदोलन" के नाम से मशहूर हो गया। आंदोलन का संगठन एक सर्वोदयी संस्था **दशौली ग्राम स्वराज्य संघ** ने किया। शुरू में आंदोलन ने आर्थिक मांगों को उठाया, जैसे—जंगल की नीलामी की जगह जंगल मजदूरों की सहकारी

समितियों को ठेके दिये जायें, जंगल की संपदा का लाभ क्षेत्रीय जनता को मिल सके, इसके लिए उसी क्षेत्र में जंगल पर आधारित उद्योगों की स्थापना की जाये, जंगल के प्रबंध में स्थानीय जनता को शामिल किया जाये और जंगल से इमारती लकड़ी और ईंधन जमा करने के जनता के अधिकार को मान्यता दी जाये। जल्द ही यह आंदोलन गढ़वाल के पड़ोसी कुमायूं जिले में भी फैल गया जहां उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी ने लोगों को संगठित किया। आज इस इलाके में पर्यावरण की सुरक्षा के लिए जंगल की कटाई बंद करने का नारा इस आंदोलन का मुख्य नारा बन गया। उनके लगातार आंदोलन ने पहाड़ी इलाके में पेड़ काटने पर प्रतिबंध लगाने के लिए उत्तर प्रदेश सरकार को मजबूर कर दिया। जंगलों को बचाने और जंगल के प्रबंध में जनता को भागीदार बनाने की मांग को पूरे उत्तर-पूर्वी पहाड़ी क्षेत्र में फैलाने के लिए अब चिपको आंदोलन के कार्यकर्ता कश्मीर से कोहिमा (नागालैंड) तक की लंबी पद-यात्रा पर निकले हैं।

महाराष्ट्र : महाराष्ट्र के ठाणे जिले में, जहां पहले भी वरली आदिवासी विद्रोह करते रहे हैं, 1975 के मध्य से एक और आंदोलन उभरा। शुरू में भूमि सेना नामक संगठन ने आदिवासियों को संगठित करके सूदखोरी, जमीन की बेदखली और ठेकेदारी प्रथा के खिलाफ आंदोलन चलाया। कुछ समय बाद उसी इलाके के दूसरे हिस्से कष्टकारी संगठन नाम का एक महत्वपूर्ण संगठन सामने आया। महाराष्ट्र के धूलिया जिले में श्रमिक संगठन पिछले दस वर्षों से आदिवासियों और भूमिहीन किसानों को संगठित करता रहा है। अभी हाल में इन तीनों संगठनों ने मिलकर महाराष्ट्र में **जंगल बचाओ समिति** का गठन किया है। इस समिति का जंगल बचाओ आंदोलन आज सारे महाराष्ट्र में पर्यावरण को बचाने, जंगल की कटाई रोकने और आदिवासियों के अधिकारों की रक्षा करने का आंदोलन बन गया है। महाराष्ट्र सरकार, स्थानीय जमींदार और कहीं-कहीं राजनीतिक पार्टियां भी आंदोलन का दमन करने में लगी हुई हैं।

झारखंड : बिहार के छोटा नागपुर, संथाल परगना और उससे सटे हुए बंगाल, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के 16 जिलों में पिछले 42 वर्षों से स्थानीय जनता और आदिवासी भारत संघ के अंदर एक अलग झारखंड राज्य के निर्माण का आंदोलन चलाते आ रहे हैं। यहां भी सरकार इस आंदोलन को पृथकतावादी आंदोलन कहकर कुचलने और इसके नेताओं को प्रलोभन और पद देकर खरीदने का प्रयास करती रही है। लेकिन, झारखंड आंदोलन के पीछे उस इलाके के विकास की उपेक्षा तथा आदिवासी समाज और अर्थ-व्यवस्था का विघटन ही मुख्य कारण है। पिछले 100 वर्षों से बाहरी लोगों द्वारा आदिवासियों की जमीन की लूट तथा सरकारी परियोजनाओं और औद्योगीकरण के दबाव से आदिवासी समाज का लगातार विघटन होता रहा है। बड़ी संख्या में आदिवासी अपनी जमीनों से विस्थापित किए गए। उन्हें उचित मुआवजा नहीं दिया गया, न उन्हें नए उद्योगों में नौकरी दी गई। दूसरी ओर, जंगलों पर उनके परम्परागत अधिकारों की लगातार कटौती की गई। आदिवासियों की उपज पर व्यापारियों का नियंत्रण है जो उन्हें मिट्टी के मोल खरीद लेते हैं। आदिवासी जातियों को राजनीतिक रूप से अलग-अलग राज्यों (बंगाल, बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश) में डाल दिया गया जिनसे उनकी भाषा

लिपि, संस्कृति और कबीलाई एकता को भारी चोट पहुंची। अलग झारखंड राज्य का आंदोलन आदिवासियों के जंगल पर स्वाभाविक और परम्परागत अधिकारों के दमन, उनके अस्तित्व के संकट का परिणाम और उसकी राजनीतिक अभिव्यक्ति है। झारखंड राज्य के माध्यम से आदिवासी अपने-आपको एक प्रदेश के रूप में संगठित कर अपनी सांस्कृतिक पहचान को बचाना चाहते हैं और अपने विकास की योजनाएं और कार्यक्रम बनाने और उन्हें लागू करने की स्वायत्तता चाहते हैं।

सिंहभूम : 1978 से छोटानागपुर के सिंहभूम जिले में एक विशाल जन-आंदोलन भड़क उठा। सिंहभूम जिले में मुख्य रूप से ही कबीले के लोग रहते हैं, साथ ही मुंडा, कुर्मी, और संथाल तथा बहुत-सी हरिजन और पिछड़ी जाति के लोग भी रहते हैं। उड़ीसा से सटे इस जिले में ही एशिया का सबसे घना और मशहूर सारंडा का जंगल भी है।

तीन कारणों से यहां के आदिवासी सरकार और वन-विभाग के खिलाफ आंदोलन करने के लिए मजबूर हुए। बिहार वन निगम ने साल, महुआ और अन्य उपयोगी तथा फलदार वृक्षों को काटकर उनकी जगह सागवान के पेड़ लगाने शुरू किये थे जो व्यवसायिक दृष्टि से अधिक मुनाफा देते हैं लेकिन आदिवासियों के किसी काम के नहीं हैं। वन विभाग पिछले 30 वर्षों से आदिवासियों की खेती की जमीन को नाजायज ढंग से वन-विभाग के जंगलों में शामिल करता रहा और इस तरह बहुत से आदिवासी अपनी जमीनों से बेदखल हो गये। साथ ही ऐतिहासिक काल से सरकारी वन-विभाग ने आदिवासियों के श्मशान स्थल और पूजा के स्थल आरक्षित वनों में शामिल कर रखे हैं जिससे आदिवासियों की धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवस्था को चोट पहुंची। अंग्रेजों ने जब से जंगलों को आरक्षित घोषित किया तब से जंगल के अंदर के बहुत से आदिवासी गांव धीरे-धीरे उजड़ गये और उसके निवासी जंगल से बाहर निकल आने को मजबूर हुए। आदिवासी गोत्रों में बंटे हुए हैं और प्रत्येक गांव में एक गोत्र के आदिवासी अपने मुर्दों को एक ही स्थान पर दफनाते हैं और वर्ष में एक बार उनकी पूजा करते हैं। अपने गोत्र के जीवित सदस्यों के अलावा मृत पुरखों से भी वे अपनी गोत्रीय एकता में विश्वास करते हैं। जब जंगल के आदिवासी गांव उजड़ गये और उनके श्मशान स्थल आरक्षित जंगल के अन्दर ही रह गये तो उनकी गोत्रीय एकता छिन्न-भिन्न हो गयी। इससे उनके मानसिक संसार और सांस्कृतिक मूल्यों को बड़ा आघात पहुंचा। ऊपर के इन तीन कारणों से असंतुष्ट आदिवासी सरकारी वन-व्यवस्था के खिलाफ आंदोलन करने को मजबूर हुए। आदिवासियों की समस्या को सहानुभूति से देखने के बजाय सरकार ने उनका दमन करना शुरू कर दिया।

नवम्बर 1978 में पुलिस ने ईचाहातु गांव में आदिवासियों पर गोली चलायी जिसमें एक व्यक्ति मारा गया। पुलिस ने फिर सरेंगदा में गोली चलायी जिसमें तीन आदिवासी मारे गये। ठीक इन्हीं दिनों सिंहभूम जिले के बहरागोड़ा इलाके में पुलिस और जमींदारों ने मिलकर अपना आंतक फैलाया। यहां बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां हुईं। ग्रामीणों को पीटा गया और स्त्रियों को बेइज्जत किया गया। उस समय पी० यू० डी० आर० (जो तब पी० यू० सी० एल० और डी० आर० के नाम से जाना जाता था) घटनाओं की छान बीन की थी।

अगस्त 1979 में हजारों की संख्या में तीर-धनुष से लैस आदिवासियों ने नगाड़े बजाते हुए सागवान के जंगलों को काट डाला, उसकी नर्सरियों को उखाड़ फेंका और उस जगह फलदार और परम्परागत पेड़ लगाने की मांग की। आदिवासियों ने सामूहिक रूप से उन जंगलों को भी काट डाला जो आदिवासियों की खेती की जमीन को हड़प कर वन-विभाग ने उगाये थे। आदिवासियों ने फिर से जमीन जोतकर खेती की। वन-विभाग ने एक स्थान पर सरकारी जंगल काटने के आरोप में 25 आदिवासियों को गिरफ्तार किया और उन पर मुकद्दमा दायर किया। लेकिन पटना उच्च न्यायालय में वन-विभाग यह साबित नहीं कर सका कि वह जंगल वन-विभाग की जमीन पर था। इसके विपरीत आदिवासियों ने उस जमीन पर अपने स्वामित्व के कागज पेश किये और वन-विभाग मुकद्दमा हार गया। आदिवासियों ने सुरक्षित जंगलों के अन्दर घुस कर अपने पूर्वजों के उखड़े हुए श्मशानों पर भी कब्जा कर लिया और सरकार से पूर्वजों की जमीन के लिए मुआवजे की मांग की।

आंदोलन को कुचलने के लिए सरकार ने सी. आर. पी. और बिहार मिलटरी पुलिस की बटालियनें भेजीं। पुलिस ने आदिवासियों के गांव को लूटा, घरों को तोड़-फोड़ दिया, स्त्रियों से बलात्कार किया और सैकड़ों निर्दोष आदिवासियों को झूठे मुकद्दमों में फंसा कर जेलों में ठूंस दिया। इन अत्याचारों के खिलाफ और जंगल पर अपने परम्परागत अधिकारों की मान्यता के लिए स्थानीय झारखंड मुक्ति मोर्चे ने जुलूस निकाला। 8 सितम्बर 1980 को गुआ नामक स्थान पर पुलिस और आदिवासियों के बीच संघर्ष हुआ जिसमें आदिवासियों ने तीर चलाकर पुलिस के चार जवानों को मार डाला। इसका बदला लेने के लिए पुलिस ने गुआ अस्पताल में 2 घायलों को इलाज कराने के लिए लेकर गये 11 आदिवासियों को पकड़कर गोली से मार डाला। पुलिस के दस्तों ने फिर बड़े पैमाने पर गांवों को लूटना— घरों को तोड़ना और अत्याचार करना शुरू किया। आंदोलन की खबरें छापने वाले एक स्थानीय पाक्षिक अखबार "सिंहभूम एकता" के दफ्तर पर पुलिस ने छापा मारा और उसके संपादक को पकड़कर जेल में बंद कर दिया। सारे दमन और हिंसा के बावजूद सिंहभूम में जंगल आंदोलन दबाया नहीं जा सका। आज भी वहां दमन और आंदोलन दोनों जारी हैं। इन सभी घटनाओं से यह बात साफ होती है कि जंगल में और उसके इर्द-गिर्द रहने वालों की समस्याओं के प्रति सरकार संवेदनशील नहीं है। सरकार की वन व्यवस्था से आदिवासियों के लिए जो समस्याएं खड़ी होती हैं इसके प्रति सरकार पहले तो उदासीनता बरतती है और जब आदिवासी आंदोलन करते हैं तो उनका दमन करती है। सरकार के इस रवैये को किस प्रकार समझा जाये ? वास्तव में सरकार का यह रवैया जंगल के बढ़ते हुए व्यवसायीकरण को पूंजीपति वर्ग के हित में जारी रखने की नीति के साथ जुड़ा हुआ है। यह जंगलों के व्यवसायीकरण की प्रबल सा स्वार्थ ही हैं जिसके चलते हमारे देश के आदिवासी आंदोलन कर रहे हैं, जंगल बरबाद हो रहे हैं और देश के प्राकृतिक पर्यावरण को खतरा पैदा हो गया है।

VI
जंगल और पर्यावरण

भारत सरकार की 1952 की वननीति में जंगलों की बरबादी को रोकने पर खूब जोर दिया है। फिर भी पिछले 30 वर्षों में लाखों हेक्टर जंगल काट डाले गये। इससे हमारे प्राकृतिक पर्यावरण को भारी खतरा पैदा हो गया है।

जंगलों की लगातार कटाई के कारण मिट्टी के कटाव से भूमि की उत्पादन क्षमता तथा अन्य गुण कम होते जा रहे हैं। इसके चलते हर वर्ष भूमि के ऊपरी सतह की करीब 600 करोड़ टन बहुमूल्य मिट्टी हम खो रहे हैं। जंगलों के कटने से वर्षा में भी कमी आ जाती है। कर्नाटक के उत्तरी कनारा जिले में 1 लाख एकड़ जंगल बरबाद हो जाने से वहां की औसत वार्षिक वर्षा में रुपये में 16 पैसे की कमी हो गयी है। इसी तरह छोटानागपुर में, जो अपने अच्छे मौसम और वर्षा के लिए मशहूर रहा है, जंगल की लगातार कटाई होते रहने से आज मौसम बिलकुल बिगड़ गया है और अक्सर सूखा और अकाल पड़ता रहता है। इसके साथ-साथ हमारे देश के कई हिस्सों में भारी बाढ़ आने का एक मुख्य कारण भी जंगलों की कटाई है। पिछले दस वर्षों में देश के दो करोड़ हेक्टर नये क्षेत्रों में बाढ़ आने की संभावना बढ़ गयी है। उदाहरण के लिए अरुणाचल प्रदेश की उत्तर-पूर्वी पहाड़ियों के जंगल कट जाने के फलस्वरूप ब्रह्मपुत्र नदी में इतनी मिट्टी जम गयी है कि उसका तल 14 फुट ऊंचा हो गया है जिसके चलते हर साल आसाम बाढ़ में डूबता है, पिछले 10 वर्षों में देश के एक करोड़ हेक्टर क्षेत्र में बाढ़ आयी जिसमें 58000 मवेशी और 1200 लोग मारे गये। बाढ़ से हर साल औसतन 1000 करोड़ रुपयों की संपत्ति बरबाद होती है। जंगल कटने से सूखा भी पड़ता है और पहले के हरे-भरे इलाके मरुभूमि बन जाते हैं। इसके अलावा पहले जंगल की कटाई से भू-स्खलन (जमीन का खिसक जाना) भी होता है जो हिमाचल प्रदेश के पहाड़ी इलाकों में हो रहा है। जंगलों से ढंकी घाटियों पर से वर्षा का पानी बहकर नदियों में चला जाता है। जंगलों के कारण पानी का तेज बहाव धीमा हो जाता है और मिट्टी का कटाव रुकता है। लेकिन जंगल कट जाने पर घाटियों की उपजाऊ मिट्टी पानी के साथ बहकर नदियों में भरने लगती है। जंगल के कट जाने से सरकार ने सिंचाई और पनबिजली के लिए जो नहरें और जलाशय (डैम) बनाये हैं, वे भी बहकर आ रही मिट्टी से भर रही हैं जिससे देश की 39 ऐसी मुख्य परियोजनाओं को खतरा पैदा हो गया है। कुल मिलाकर, जंगलों के कटने का मतलब है बड़े पैमाने पर मुखमरी, तबाही और दुख-तकलीफ। महाराष्ट्र में पश्चिमी घाटों के जंगलों के कट जाने के फलस्वरूप उन इलाकों के लाखों आदिवासी वहां से भागकर रोजी-रोटी कमाने के लिए बंबई महानगरी में भटक रहे हैं। और दूसरी तरफ उनके गांवों में उनके बीबी-बच्चे भुखमरी से बचने के लिए जूझ रहे हैं। अगर जंगल इसी रफ्तार से कटते रहे तो देश के दूसरे हिस्सों में भी कल यही हालत हो सकती है।

हाल के दिनों में जंगलों की इस तरह की बरबादी के खिलाफ और प्राकृतिक पर्यावरण की

सुरक्षा के लिए देश में एक जोरदार जन-जागृति उभरी है। यूरोपीय और अमरीकी सरकारों ने भी अपने उद्योगों और पूंजी पर पड़ने वाले जंगल कटाई के घातक प्रभावों की चिंता करके विभिन्न देशों में पर्यावरण की सुरक्षा के अभियान को प्रोत्साहन देना शुरू किया है। अमरीकी सरकार के सामने पेश की गयी "राष्ट्रपति को विश्व संबंधी 2001 रिपोर्ट" में यह चेतावनी दी गयी है कि भारत जैसे देशों में जंगलों के विनाश से अनाज और ईंधन की भारी कमी हो जायेगी जिससे विदेशी सहायता की मांग बहुत बढ़ जायेगी और साथ ही पश्चिमी देशों के उद्योगों के माल की बिक्री बहुत घट जायेगी और इन दोनों के फलस्वरूप हमारी अपनी अर्थ-व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ेगा। अब धीरे-धीरे भारत सरकार अपनी कुंभकर्णी नींद से जागकर चिंतित हो रही है जबकि 1947 से अब तक देश के 42 लाख हेक्टर जंगल कट चुके हैं।

सरकार ने अब केंद्र और राज्य, दोनों स्तरों पर फिर से जंगल उगाने के कार्यक्रम को शुरू किया है राज्य सरकारों ने इस काम में अभी तक 10 करोड़ रुपये खर्च किये हैं। आजादी के बाद से अब तक 38 लाख हेक्टर जमीन पर जंगल उगाये गये हैं, जिनमें से 22 लाख हेक्टर जमीन पर औद्योगिक और आर्थिक उद्देश्य से पेड़ उगाये गये और 14.8 लाख हेक्टर जमीन पर यूकलिप्टस और केजूरिना जैसे जल्दी बढ़ने वाले पेड़ लगाये गये हैं। इधर हाल में केंद्र सरकार ने बड़े धूम-धाम से "सोशल फारेस्ट्री" (सामाजिक उद्देश्य से वनरोपण) के कार्यक्रम और समारोह चलाना शुरू किया है इस सामाजिक वनरोपण के कार्यक्रम में सामाजिक उद्देश्य कितना है इसका राज तो इसी बात से खुल जाता है कि छठी पंचवर्षीय योजना में व्यवसायिक हितों के लिए जंगल लगाने पर 356 करोड़ रुपये रखे गये हैं जबकि जलावन की लकड़ी वाले जंगल के लिए (जो जनता के लिए जरूरी है) सिर्फ 50 करोड़ रुपये रखे गये हैं।

वनरोपण के इन कार्यक्रमों के लिए काफी पैसा यूरोप और अमरीकी ऐजेंसियां दे रही हैं, जिनके व्यवसायिक हितों के लिए वनरोपण जरूरी है। लेकिन वास्तव में इन कार्यक्रमों को सही माने में जंगल लगाने का कार्यक्रम नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें से कई कार्यक्रमों में प्राकृतिक जंगल काटकर नये जंगल लागये जा रहे हैं। इन बनावटी नये जंगलों में प्राकृतिक जंगलों की तरह अनेक जातियों के पेड़-पौधे झाड़ियां और घास भी नहीं है, जो वर्षा के पानी को नियंत्रित कर मिट्टी का कटाव रोकते हों। (परिशिष्ट भी देखिये) उत्तराखंड में चीड़ और नीलगिरि पहाड़ियों पर यूकलिप्टस के नये बनावटी जंगलों से वर्षा के पानी को भूमि के अंदर सोखकर इकट्ठा करने में कोई मदद नहीं मिली। मध्यप्रदेश के बस्तर जिले में पुराने जंगल काटकर प्रति वर्ष 1000 हेक्टर में चीड़ के जंगल उगाने की विश्व बैंक की विवादास्पद परियोजना भी इसी का एक और उदाहरण है। फोर्ड फाउंडेशन की सिफारिश पर बनी इस परियोजना में बस्तर के साल महुआ और ऐसे ही आदिवासियों के लिए उपयोगी दूसरे पेड़ों के जंगल काटकर ऊंची किस्म का कागज बनाने के लिए चीड़ के पेड़ लगाये जायेंगे। प्रशांत महासागर के द्वीपों से लाये गये ये चीड़ के पौधे बस्तर की मिट्टी और जलवायु के अनुकूल नहीं है। और अपने आस-पास अन्य पेड़-पौधे को उगने नहीं देंगे। यही किस्सा विश्व बैंक के कर्नाटक के कोलार जिले के और हिमाचल प्रदेश

के चीड़ के नकली जंगलों का भी है। तमिलनाडु में स्वीड़ेन की एक विकास संस्था सिडा (सी. आई. डी. ए.) दस करोड़ रुपये की एक जंगल परियोजना के लिए पैसा दे रही है। इस परियोजना के जंगल से जो लकड़ी कटेगी वह लकड़ी माचिस बनाने वाली कम्पनी 'विमको' को दी जायेगी जो स्वीड़ेन की एक विशाल बहुराष्ट्रीय संस्था है। आमतौर पर सरकार के इन सभी 'जंगल लगाओ' कार्यक्रमों का असली उद्देश्य आदिवासियों की रोज-मर्रा की जरूरतों का बलिदान करके देशी विदेशी पूंजीपतियों के कागज, रेसिन, माचिस और लड़की उद्योगों की जरूरतें पूरा करना रहा है।

इस तरह पिछले 35 वर्षों से स्थानीय जनता की जरूरतों को पूरा करने और पर्यावरण को सुरक्षित रखने वाले जंगल बरबाद होते रहे हैं। "जंगल लगाओ" का सरकारी अभियान उस बरबादी को पूरा नहीं करता। सरकार का आंकड़ा है कि देश का 42 लाख हेक्टर जंगल नष्ट हो चुका है लेकिन यह आंकड़ा वास्तविक विनाश से कम है। जैसाकि पहले भी बताया जा चुका है कि वन विभाग खेतिहर जमीनों और बंजर जमीन तक को भी जंगल घोषित करके जंगलों का क्षेत्रफल बढ़ा-चढ़ाकर दिखाता रहा है और आरक्षित जंगलों के अंदर चोरी-छुपे हो रही गैर-कानूनी कटाई को तो वे कभी अपने कागजों में नहीं दिखाते। अकेले मध्य प्रदेश में 20 लाख हेक्टर के जंगल साफ हो गये। सरकारी आंकड़े दावा करते हैं कि उडीसा में 43·7%, हिमाचल प्रदेश में 39% और असम 29.2% भूमि क्षेत्र जंगलों से ढंका है। लेकिन अंतरिक्ष के उपग्रहों से लिए गये फोटो से अनुसार उड़ीसा में 30%, हिमाचल में केवल 19% और असम में 23% भूमि ही जंगल से ढंकी है। उपग्रह फोटो के अनुसार भारत में जंगल केवल 8% से 10% भाग में पहुंचा है जबकि सरकारी सूत्रों का दावा 23% का है। आंकड़ों के इन परस्पर विरोधी दावों के साथ जरा इस बात पर भी गौर करना चाहिए कि भारत के कुल जंगल क्षेत्र में 2·60 लाख हेक्टर जंगल क्षेत्र सिक्किम का है जिसे कुछ वर्ष पहले ही भारत संघ में मिलाया गया है।

अलग-अलग लोग जंगलों के विनाश के अलग-अलग कारण बताते हैं। पर्यावरण विशेषज्ञ, सरकारी अधिकारी और अखबार-पत्रिकाओं वाले जंगलों के विनाश के बहुत सारे कारण बताते हैं जिनमें परस्पर विरोध भी है। हम उन सभी कारणों को नीचे चार श्रेणियों में बांटकर उनका विवेचन करेंगे। ये चार श्रेणियां हैं: प्राकृतिक, खेतिहर, व्यवसायिक, आदिवासी।

प्राकृतिक कारण : पौधों की बीमारियां, जैसे फफूंद लग जाना आदि जंगल में आग, जंगलों के विनाश के ये दो प्राकृतिक कारण हैं। जंगल में आग, जमीन पर बिछी सूखी घास में, पौधों में या पेड़ों की चोटियों में लग सकती है। यह आग सूरज की गर्मी या सूखे बांसों के आपस में रगड़ने से लग सकती है। जंगल में जलायी आग, मजदूरों या घूमने वालों की बीड़ी, सिगरेट या माचिस से निकली चिनगारियों से भी जंगल में आग लग सकती है। कई इलाकों में गांववालों को भी इसके लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है। क्योंकि वे अक्सर वर्षा का मौसम आने से पहले जंगल के सूखे पत्तों में आग लगाते हैं ताकि उनकी राख पानी में बहकर खेतों में खाद बनकर पहुंचे। आम तौर पर ये प्राकृतिक कारण तो स्वयं प्रकृति

के व्यवहार के ही अंग हैं। जंगल के विनाश में इनकी भूमिका बहुत कम है।

खेतिहर कारण : लोगों को जमीन की भूख और जमीन से आदिवासियों की बेदखली के कारण खेती लायक जमीन की मांग बढ़ गयी है जिसके फलस्वरूप अधिक से अधिक जंगल साफ करके खेती की जमीन तैयार की जाती रही है। मवेशियों की बढ़ती हुई संख्या से भी अधिक चारागाह बनाने के सिलसिले में जंगल नष्ट होते हैं। इस समस्या का मूल कारण यह है कि गरीब किसानों के पास और उनके पशुओं के उपयोग लायक जमीन बहुत घट गयी है।

विकास संबंधी और व्यवसायिक कारण : विकास या व्यवसाय के लिए दो तरह से जंगल बरबाद होते हैं, कारखानों और परियोजनाओं के लिए जंगल का साफ होना या डूब जाना और व्यापार या उद्योग के लिए पेड़ों का कटना। सड़क निर्माण, भारी उद्योग और खदानें सब के लिए जंगल साफ किया जाता रहा है। सिंचाई और नदी-घाटी परियोजनाओं में जंगल का बहुत बड़ा इलाका डूब गया, खासकर 1955 के बाद। हाल ही में भारी जन-विरोध के कारण सरकार को केरल में "साइलेंट वैली" परियोजना स्थगित कर देनी पड़ी क्योंकि उससे प्राकृतिक घने जंगलों का एक बड़ा इलाका डूब जायेगा। अक्सर गलत समझदारी पर बनी इन परियोजनाओं से काफी बरबादी होती है। उदाहरण के लिए, कर्नाटक में शरावती नदी पर बना लिंगनामक्की जलाशय पिछले 20 वर्षों में सिर्फ 3 बार पूरी तरह भर पाया क्योंकि नदी में बहने वाले पानी की मात्रा का गलत हिसाब लगाया गया था। अगर सही हिसाब लगा होता तो बांध की ऊंचाई को कम रखा जाता और तब कई हजार हेक्टर जंगल का इलाका बच जाता। विडम्बना तो यह है कि गलत ढंग से बनी इस योजना (जिसके चलते जंगल डूबा) के फलस्वरूप जो आदिवासी विस्थापित हुए उन्हें फिर से बसाने के लिए अब और अधिक जंगल कट रहे हैं। कर्नाटक से ही काली पन बिजली परियोजना के विस्थापितों को बेलगांव में आरक्षित जंगल पर से प्रतिबंध हटाकर बसाना पड़ा। जंगल के भीतरी हिस्सों में जंगल साफ करके सड़कें बनती हैं और फिर इन्हीं सड़कों पर से आकर और जंगल साफ करते हैं। ये सब कार्यक्रम दूसरी पंचवर्षीय योजना और उसके बाद के औद्योगीकरण के परिणाम हैं जिसने हमारे देश के जंगलों के एक बड़े हिस्से को अपनी लपेट में ले लिया। आस-पास के कारणों और उद्योगों से निकलने वाले धुएं और जहरीली गैसों के ऊपर से भी पेड़-पौधों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। उनके तनों और पत्तियों को नुकसान पहुंचता है, वे सूखने लगते हैं और अपने से बार-बार उत्पन्न होने की उनकी दर घट जाती है और नाजुक पौधे मर भी जाते हैं। वायु के प्रदूषण से जंगलों का घनापन कम हो जाता है और उनकी लकड़ी की मात्रा उसके गुण में गिरावट आ जाती है।

व्यवसायिक लाभ के उद्देश्य से, लकड़ी व्यापारियों और कारखानों को लकड़ी भेजने के लिए भी जंगलों का विनाश किया जाता है। राज्य सरकारों तक ने जंगल से अधिक से अधिक पैसा कमाने के लालच में सरकारी तौर पर बेहिसाब जंगल कटवाये हैं। इसके अलावा निजी मुनाफे के लिए ठेकेदारों, पूंजीपतियों और जंगल विभाग के अधिकारियों की मिलीभगत से जो अवैध कटाई होती है सो अलग ही है। उत्तर प्रदेश में सर-

कारी आरक्षित जंगलों के एक चौथाई भाग का ऐसे ही अवैध तरीकों से सफाया हो गया है। जलाऊ लकड़ी की मांग के कारण भी जंगल के पेड़ कटते हैं। अक्सर आदिवासियों पर जलाऊ लकड़ी जमा कराने का दोष मढ़ा जाता है लेकिन गौर करने लायक बात है कि आदिवासी जंगल से जो लकड़ी लाते हैं उसका अधिकांश भाग तो शहरों, कस्बों और गांवों के घरों में जलाया जाता है। आदिवासी अपना काम तो आमतौर पर सूखी टहनियां और पत्ते बटोरकर ही चला लेते हैं।

आदिवासियों के कारण : जंगल में आदिवासियों द्वारा झूम खेती करना, शिकार खेलना, लकड़ी और जंगल की दूसरी पैदावार बटोरना, पेड़ काटना, आग जलाना, और मवेशी चराना आदि को जंगलों की बरबादी का कारण ठहराया जाता है। झूम खेती सिर्फ भारत के उत्तर-पूर्वी इलाकों में और उड़ीसा में कहीं-कहीं की जाती है। असल में झूम खेती के हल्ले के बावजूद उत्तर-पूर्व के अलावा सरकार ने और कहीं इसका हिसाब ही नहीं लगाया है। मूल समस्या तो आदिवासियों की अपनी रोजी-रोटी के लिए खेती लायक जमीन की है और इसका हल तो तभी होगा जब सरकार खुद अपने बनाये भूमि कानूनों को ईमानदारी से लागू करेगी। बड़े पैमाने पर पेड़ों को काटने के लिए और ले जाने के लिए बड़े-बड़े आरे और ट्रक चाहिए। कोई भी आदमी जानता है कि बड़े पैमाने पर पेड़ काटने के ये साधन गरीब आदिवासियों के पास नहीं बल्कि पैसे वाले ठेकेदारों और वन विभाग के पास हैं। इसके अलावा आदिवासी अपने घरेलू उपयोग के लिए या बाजार में बेचने के लिए भी समूचा पेड़ कभी नहीं काटते, जैसाकि मुनाफाखोर व्यापारी और ठेकेदार बेहिचक करते है। आदिवासियों का काम तो केवल पेड़ों की डालें काटकर ही चल जाता है। जहां तक जंगल पर उनके परम्परागत अधिकारों का सवाल है, हमने पहले ही देखा है कि किस तरह हरेक सरकार ने एक-एक करके उनके इन अधिकारों को छीन लिया। आदिवासियों का कोई बड़ा व्यवसायिक धंधा नहीं है। वे जंगल का उपयोग अपने लिए भोजन जुटाने और जलावन की लकड़ी, चारा तथा साधारण घरेलू जरूरतों को पूरा करने के लिए करते हैं। उनकी ये मामूली जरूरतें हमारे जंगलों के विनाश का कारण नहीं हो सकतीं। आदिवासियों पर लगाये गये आरोप अस्पष्ट और मनगढंत हैं, जिनको कभी सिद्ध नहीं किया गया। पीढ़ी दर पीढ़ी आदिवासी कबीलों ने जंगल के पेड़ पौधों और जानवरों की दुनिया के साथ एक गहरा सामंजस्य स्थापित किया। उनका धर्म, संस्कृति, परम्परायें जंगल से जुड़ी हुई हैं जिसके चलते वे जंगलों की रक्षा करते हैं। आदिवासियों का इतिहास और उनके जीवन की परिस्थितियां हमें यही बताती हैं कि आदिवासी ही जंगल के सच्चे मित्र और रक्षक हैं। आदिवासियों को अपने साथ लिए बिना जंगलों की रक्षा नहीं की जा सकती। सचाई तो यह है कि जब तक जंगलों पर सिर्फ आदिवासियों का स्वामित्व रहा तब तक हमारे देश में खूब घने जंगल रहे; बड़े पैमाने पर जंगलों के विनाश की प्रक्रिया तब शुरू हुई जब जंगलों को आदिवासियों के स्वामित्व से छीनकर वन विभाग और व्यावसायिक हितों के हवाले कर दिया गया। कई जगह सजग आदिवासी संगठनों ने जंगल से चोरी की लकड़ी ले जाते हुए ट्रकों को पकड़ा लेकिन वन-विभाग और पुलिस ने उलटे इन आदिवासियों को ही तंग किया। आदिवासियों के खिलाफ झूठा प्रचार बंद

करना होगा। जबकि मुनाफाखोर व्यवसायिक स्वार्थों को कभी न मिटनेवाली भूख को तो "विकास की प्रक्रिया की बुनियादी आवश्यकता" कहकर बढ़ावा दिया गया है, वहीं आदिवासियों के साधारण जीवन की साधारण जरूरतों को ही जंगलों के मिटने का प्रमुख कारण बताने की कोशिश की गयी। ऐसी ही झूठी और निराधार मान्यताओं के आधार पर सरकार ने नये भारतीय जंगल कानून का मसौदा तैयार किया है।

VII

नये जंगल कानून का मसौदा

वर्तमान सरकार जिस मसौदे को नये भारतीय जंगल कानून का रूप देना चाहती है उसे नवम्बर 1978 में जनता सरकार के शासन में राष्ट्रीय कृषि आयोग के सुझावों के आधार पर केंद्रीय वन मंडल ने तैयार किया था। कानून बन जाने पर यह भारतीय जंगल कानून 1727 के स्थान पर लागू होगा। 25 अगस्त 1980 को केंद्रीय वन मंडल की 18वीं बैठक में नये कानून के मसौदे का अन्तिम स्वरूप तय हुआ। इसे विभिन्न राज्य सरकारों की टिप्पणी के लिए भेजा गया। अगर सरकार ने इस मसौदे को बिल के रूप में संसद में पेश किया और सरकारी पार्टी ने उसे पास कर दिया तो यह कानून बन जायेगा।

नये कानून का उद्देश्य बड़े पैमाने पर जंगल के विनाश को रोकना कहा गया है। जंगल साफ कर खेत बनाने और ठेकेदारी प्रथा पर रोक लगाना, जंगल से राज्य सरकार की आय को और बढ़ाना तथा जंगल पर आदिवासियों के परम्परागत अधिकारों को नियंत्रित करना भी इस नये कानून का उद्देश्य होगा। मसौदे के 15 अध्यायों में 143 अनुच्छेद हैं जिनमें शहरों में लगे पेड़ों और ग्रामीणों के निजी वृक्षों समेत सभी तरह के जंगलों के लिए नियम बनाये गये हैं।

नये कानून के मसौदे में जंगल की परिभाषा के अन्तर्गत "कोई भी जमीन···जिसे सरकार जंगल घोषित कर दे" को भी जंगल मान लिया गया है। पत्ते, फूल और फल सहित कुछ 36 अलग-अलग वस्तुओं को वन की उपज घोषित किया गया है। इसके अलावा "पेड़ों के अन्य सभी भाग और उनसे मिलने वाली सब वस्तुएं जिनका यहां जिक्र नहीं किया गया" भी वन की उपज होंगी। वन की उपज का मतलब यह है कि बिना अधिकार के इन्हें उठाने या लेने की मनाही है।

मसौदे में राज्य सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि वे किसी भी इलाके को आरक्षित वन घोषित कर सकती है। ऐसे वनों में सरकारी अनुमति के बिना किसी भी तरह की झूम खेती पर प्रतिबन्ध होगा। ऐसे आरक्षित जंगलों में किसी भी व्यक्ति या समूह के अधिकार या दावे जंगल के बंदोबस्त अधिकारी (सेटलमेंट आफीसर) के सामने पेश किये जायेंगे और वह इन दावों या अधिकारों को स्वीकार या निरस्त करने का आदेश दे

सकता है। इस तरह के काम में जंगल के बंदोबस्त अधिकारी को दीवानी अदालत के अधिकार होंगे। ऐसी जमीन को दखल करने के लिए उसे कलक्टर घोषित किया जायेगा। और ऐसे दावों के सब मामले सरकार द्वारा स्थापित "जंगल की अदालतों" में निपटाये जायेंगे। इन अदालतों के फैसले राज्य सरकार संशोधित कर सकती है। किसी के दावों को मान्यता देने के बाद भी राज्य सरकार को यह अधिकार होगा कि वह बाद में इन्हें निरस्त कर दे। और, अगर बाद में कभी उन जंगलों पर से आरक्षण हटा भी लिया गया तो वे भी "दावे और अधिकार पुन: स्थापित नहीं माने जायेंगे।" ऐसे आरक्षित वनों में 40 तरह के कामों को अपराध घोषित किया गया है। ऐसे जंगलों में "बिना आज्ञा के जाना" या पत्ते, घास, फूल और फल जैसी "वन की उपज जमा करना" भी इन 40 अपराधों में शामिल है।

संरक्षित (प्रोटेक्टेड) घोषित किये गये जंगलों में रहने वाले लोगों के अधिकार "एक सर्वेक्षण या बंदोबस्त में तय किये जायेंगे। राज्य सरकार को जंगल लगाने से लेकर "घास काटना, मवेशी चराना, शिकार खेलना···" इन सब कामों को नियंत्रित करने का पूरा अधिकार होगा। संरक्षित जंगल में आग लगने पर या चोरी हो जाने पर राज्य सरकार वहां के लोगों के "सर्वेक्षण और बन्दोबस्त में दर्ज किये गये" सब अधिकार निलंबित कर सकती है। नये कानून के मसौदे में पेड़ों के गिरे हुए पत्तों को जमा करना भी अपराध घोषित किया गया है। राज्य सरकार को यह अधिकार होगा कि वह उन 36 वस्तुओं का (जिन्हें वन की उपज कहा गया) व्यापार या तो अपने हाथ में ले ले या किसी और को व्यापार करने का लाइसेंस दे।

गांव के जंगल में भी जंगल के प्रबन्ध के लिए सरकार नियम बना सकती है, जिनका पालन न करना ग्रामीणों के लिए अपराध होगा। इसके अलावा सरकार "किसी भी जंगल या बंजर जमीन, जो सरकारी सम्पत्ति नहीं है, "में भी कई कामों पर रोक लगा सकती है।" इन कामों में घास काटना और पत्ते जमा करना भी शामिल है, इस मामले में किसी भी कानूनी अदालत में सरकार पर मुकद्दमा दायर नहीं किया जा सकता। कुछ परिस्थितियों में सरकार गांव के जंगलों और किसानों की निजी जमीन के टुकड़ों पर भी प्रबन्ध का अधिकार अपने हाथों में ले सकती है।

सभी तरह के जंगलों से निकाली गयी लकड़ी पर टैक्स वसूलने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को होगा जबकि जंगल की बाकी पैदावार पर लेवी वसूलने का अधिकार राज्य सरकार को होगा। राज्य सरकार को इस बात का भी पूरा अधिकार होगा कि वह जंगल की किसी भी पैदावार के व्यापार और परिवहन के लिए किसी भी व्यक्ति, कम्पनी, निगम या सहकारी समिति को नियुक्त करे।

इस मसौदे में सभी तरह के अपराध दंडनीय हैं। इन अपराधों में जंगल में टहलना और फूल तोड़ना भी शामिल है। अपराध के दौरान जिन औजारों का इस्तेमाल हुआ, उन आजारों को जब्त किया जा सकता है और इस जब्ती का विरोध करना एक और अपराध माना जायेगा, यहां तक कि जंगल में संयोग से लगी आग या किसी मवेशी के चरने सूचना, जानते हुए भी, अगर किसी ग्रामीण ने वन अधिकारियों तक न पहुंचा सका, तो यह भी

उसका अपराध माना जायेगा। इन सभी अपराधों की सजा के रूप में तीन साल तक की जेल या 5000 रु० जुर्माना या जेल और जुर्माना, दोनों हो सकता है। अगर अपराध "सूर्योदय के पहले या सूर्यास्त के बाद" हुआ हो तो सजा दुगुनी भी हो सकती है। मसौदे में वन अधिकारियों को मजिस्ट्रेट के अधिकार दे दिये गये हैं और वे "तर्क संगत संदेह होने पर बिना वारंट के किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार" कर सकते हैं, खुद ही उसकी सुनवाई करके उसे एक साल तक की जेल या एक हजार रुपए जुर्माने की सजा भी दे सकते हैं। इस तरह प्रस्तावित कानून कार्यकारिणी को ही न्यायिक अधिकार भी सौंपने की एक खतरनाक प्रणाली को लागू करता है। फारेस्ट अफसरों को जुर्माना वसूलने, मुआवजे का हिसाब लगाने और मुजरिम की सम्पत्ति जब्त और रिहा करने के अधिकार भी दिए गए हैं। उन्हें तलाशी लेने, वारंट जारी करने, जांच करने, सबूतों को प्राप्त करने और उन्हें दर्ज करने का भी अधिकार है। उन्हें जन सेवक (पब्लिक सर्वेंट) माना गया है और अपने नेक इरादों से वे जो कुछ भी करेंगे, उसके लिए उनके खिलाफ देश की किसी भी अदालत में मुकदमा नहीं किया जा सकता जब तक कि उनके ऊपर के अफसर इसकी इजाजत न दें। इस तरह यह मसौदा वन विभाग के अफसरों को जंगल का निरंकुश शासक बना देता है और जंगल में सचमुच "जंगल का कानून" लागू करता है।

यह मसौदा एक कानून के रूप में देश के पर्यावरण, अर्थव्यवस्था, संविधान, जनतान्त्रिक मूल्यों और आदिवासियों के लिए कितना खतरनाक होगा यह अलग से कहने की जरूरत नहीं है। यह मसौदा सरकार को जंगल की सभी पैदावारों के उगाने, जमा करने, व्यापार और परिवहन पर असीमित नियन्त्रण का अधिकार देता है। हालांकि यह राज्य सरकार को ठेकेदारों को हटाने और व्यापार को अपने हाथों लेने का अधिकार देता है फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि इस अधिकार के फलस्वरूप बीच के दलाल समाप्त हो जायें। जिस बैठक में केन्द्रीय वन मण्डल ने कानून के इस प्रारूप को प्रस्तावित किया था, उसी बैठक में जंगल से ठेकेदारी प्रथा समाप्त करने के लिए एक दस वर्षीय कार्यक्रम बनाया गया था। लेकिन प्रस्तुत मसौदा खुद ही सरकार को अधिकार देता है कि वह जंगल को किसी भी निजी व्यक्ति या संस्था को ठेके या पट्टे पर दे। यह वन अधिकारियों को असीम अधिकार देकर उनके तमाम गैर-कानूनी कामों और भ्रष्टाचार को कानूनी जामा पहना देता है। इन सबका अर्थ व्यवहार में सिर्फ यही होगा कि प्राकृतिक जंगलों की जगह और अधिक व्यावसायिक जंगल उगाये जायेंगे और जंगलों के व्यवसायीकरण की ओर आगे बढ़ेगी। इससे तीन नतीजे निकलेंगे : आदिवासियों की बरबादी, जंगल की बरबादी और पर्यावरण को गम्भीर खतरा।

यह मसौदा हमारे संविधान का पूरी तरह से उल्लंघन करता है। यह बेधड़क व्यक्तियों के जिन्दा और आजाद रहने के मौलिक अधिकार का हनन करता है। जो सरकार हमेशा धनियों की सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करती रही है, प्रस्तावित कानून में वह गरीब आदिवासियों की सम्पत्ति (पेड़ों और जमीन पर) पर अपने नियन्त्रण के अधिकार का दावा करती है और वह भी आदिवासियों को कोई मुआवजा दिये बगैर। यह मसौदा काम के अधिकार, पर्याप्त आजीविका कमाने का अधिकार, पर्यावरण को सुरक्षित रखने

तथा न्यायपालिकाओं को कार्यपालिका से अलग रखने के समेत संविधान के सभी निर्देशक सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है। यह मसौदा राज्य सरकार समेत सभी निचली संस्थाओं की सत्ता और स्वायत्ता को खत्म कर देता है।

लेकिन इस प्रस्तावित कानून का मुख्य निशाना तो आदिवासी और जंगल के इर्द-गिर्द के निवासियों को बनाया गया है। सिर्फ एक कलम चलाकर सरकार उनके समस्त परंपरागत सामूहिक और जनतांत्रिक अधिकारों को खतम कर देती है। इसके कानून बन जाने से इज्जत से आजीविका कमाने के सभी रास्ते बंद हो जायेंगे। उनकी स्थिति को नीचे गिराकर उन्हें पूरी तरह से उन वन अधिकारियों की इच्छाओं के अधीन कर दिया गया है जिन्हें अब, प्रस्तावित कानून के जरिये एक राजस्व अधिकारी, एक दीवानी अदालत, एक कलक्टर, एक पुलिस अफसर, एक मजिस्ट्रेट, एक प्रोसेक्यूटर, एक जज और एक जूरी के भी अधिकार मिल गये हैं।

VIII
निष्कर्ष

जंगलों के विनाश की प्रक्रिया आज एक ऐसी हद तक पहुंच चुकी है जहां यह बाढ़ और अकाल, खाद्यान्न और ईंधन का संकट पैदा कर मानव समाज को एक अपरिहार्य दुखांत की ओर धकेल रही है। विस्फोटकारी स्थिति जितनी दूर दिखती है, उतनी दूर नहीं भी हो सकती है। सरकार भी अब इसके संकट को मानने लगी है लेकिन मानने के बावजूद संकट के प्रति उसका रवैया बड़ा गैर-जनतांत्रिक है।

पर्यावरण की जरूरतें, जंगल के साधनों का उपयोग और आदिवासियों की भलाई, ये तीनों जो बुनियादी तौर से आपस में सामंजस्यपूर्ण संबंध रखती हैं, अब सरकारी रवैये के चलते आपस में विरोधी प्रतीत हो रही हैं। जंगलों का विनाश 'विकास की प्रक्रिया' का अवश्यंभावी परिणाम हो गया है। लेकिन इसके लिए सरकारी नीति जिम्मेदार है जिसने विकास की ऐसी ही प्रक्रिया चुनी जिसमें जंगलों की लगातार कटाई आवश्यक है और जिसने व्यवसायिक हितों के लिए पेड़ों को निर्ममता से कटवा दिया। इस तरह इस सरकारी नीति के कारण जंगलों का विनाश, जो आवश्यंभावी नहीं था, अवश्यंभावी बन गया। इस नीति से अब जो संकट पैदा हुआ है उसके लिए सरकार अपनी जिम्मेदारी से इनकार कर रही है। इसके उलटे वह आदिवासियों को इसका जिम्मेदार ठहरा रही है।

वास्तव में सरकारी नीति (अधिकतम राजस्व वसूली) है ही ऐसी कि जिससे स्थानीय जनता के जीवन पर लगातार और योजना-बद्ध प्रहार होते हैं। अपने जीवन की आर्थिक आवश्यकताओं, सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक परंपराओं पर इन प्रहारों से मजबूर होकर आदिवासियों को संघर्ष का रास्ता अपनाना पड़ा। और सरकार ने अपनी सारी सत्ता के साथ उनके दमन का रास्ता अपनाया। वर्तमान समय में देश के कम से कम तीन

बड़े जंगल वाले इलाकों में, उत्तर-पूर्व, छोटा नागपुर और अदिलाबाद में, दमन की कार्रवाइयां चल रही हैं। यह तो जनता के विरोध प्रकट करने के अधिकार को सरासर अस्वीकार करना है।

सरकारी वन नीति ने जंगल के निवासियों के आजीविका के स्रोतों को समाप्त कर दिया है। उन्हें उनके सदियों के बसेरों से विस्थापित कर ऐसे उद्योग स्थापित किये गये जिनमें उन विस्थापितों को वादे के मुताबिक रोजगार भी नहीं दिये गये। उन्हें वाजिब मुआवजा भी नहीं मिला। स्थिर जीवन और सुनिश्चित आजीविका वाले सरल और संतुष्ट आदिवासियों को व्यापारियों, ठेकेदारों और सरकारी अधिकारियों की दया पर निर्भर सस्ते मजदूरों में बदल दिया। यह तो उनके काम के अधिकार को सरासर अस्वीकार करना है।

सरकारी वन नीति अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के क्रम में आदिवासियों के सामाजिक आर्थिक जीवन के जनतांत्रिक चरित्र को खत्म कर दे रही है। जंगलों पर आदिवासियों के स्वाभाविक और परंपरागत अधिकार, जिन्हें 1864 के जंगल कानून में 'समुदायों के अधिकार' के रूप में मान्यता दी गयी थी, 1927 के जंगल कानून में वे अधिकार 'व्यक्तियों के अधिकार' में बदल गये। 1952 में 'रियायतों' में बदल दिये गये। और अब नये प्रस्तावित कानून में उन्हें **अपराध** घोषित किया गया। घास काटना, फूल और पत्तियां तोड़ना, यहां तक कि जंगल में घूमना भी जुर्म करार दिया गया है और इसके लिए जेल की सजा रखी गयी है। यह तो सम्मान के साथ उनके जीने के अधिकार को अस्वीकार करना है।

इस तरह सरकारी वन नीति न सिर्फ आदिवासियों के परंपरागत अधिकारों को मानने से इनकार करती है बल्कि उनके विरोध प्रकट करने के अधिकार, काम करने के अधिकार और सम्मान के साथ जीवन जीने के अधिकार को भी अस्वीकार करती है। ऐसी अस्वीकृति को लागू करने के लिए जिन दमनकारी उपायों की जरूरत है, प्रस्तुत मसौदा उन्हीं उपायों को कानूनी धाराओं के रूप में पेश करता है। हकीकत में यह आदिवासियों के खिलाफ एक अघोषित युद्ध छेड़ना है।

हिमालय के बरबाद हो गये जंगलों में, नीलगिरि के घातक यूकलिप्टस वन-रोपण क्षेत्र में, बस्तर के विदेशों से आयातित सागवान के इलाकों में, कोरापुट की छीन ली गई जमीनों में, गोवा के कॉफी के बागानों में, संथाल परगना के अकालग्रस्त इलाकों में, छोटा नागपुर के हड़प लिये गये श्मशानों में, धनबाद में खदानों के लिए बिना मुआवजे के ले ली गयी जमीनों में, महाराष्ट्र के जंगली गांवों में, सशस्त्र पुलिस के कैंपों से बिंधे अदिलाबाद में और नागालैंड की कंटीले तारों से घिरी बस्तियों में चल रहे लाखों आदिवासियों की लड़ाई को प्रस्तावित कानून एक नयी मंजिल पर पहुंचा देगा।

देश के जनवादी विचारों वाले व्यक्तियों और संस्थाओं को आदिवासियों के खिलाफ सरकार के इस अघोषित युद्ध का विरोध जरूर करना चाहिए।

परिशिष्ट

1·1 भारत : वन, 1980-81
1·2 वन : स्वामित्व, दर्जा और बनावट
2·1 केंद्रीय वन अधिनियम : ऐतिहासिक क्रम
2·2 जंगल से संबंधित अन्य केंद्रीय अधिनियम
3·1 वन विभाग : राजस्व, खर्च और अतिरिक्त आय
3·2 लघु वन-उपज : बढ़ता हुआ व्यवसायीकरण
3·3 कुछ चुने हुए वन पर आधारित उद्योगों का उत्पादन
3·4 लकड़ी का उत्पादन
3·5 वन-उपज का व्यापार : राष्ट्रीयकरण
4·1 आदिवासी जनसंख्या की एक झलक
4·2 अनुसूचित जनजातियां : दैनिक औसत आय
4·3 आदिवासियों पर कर्ज
4·4 झूम खेती
4·5 आदिवासियों की जमीन : कानूनी विवाद
5·1 आदिवासी आंदोलन : प्रथम वन अधिनियम से अबतक का ऐतिहासिक क्रम
6·1 वन-रोपण कार्यक्रम
6·2 जंगल की कटाई
6·3 जंगल में विदेशी ऐजेंसियां
6·4 प्राकृतिक जंगल बनाम व्यवसायिक वन-रोपण

1.1 भारत : वन, 1980-81

कुल वन-क्षेत्र : 748 लाख हेक्टर

कुल क्षेत्र में वन-क्षेत्र का प्रतिशत : 22·7

1.2 वन : स्वामित्व दर्जा और बनावट

(प्रतिशत)

	1965-66	1976-77
स्वामित्व		
राज्य	95·2	95·8
निगम	3·0	2·6
निजी	1·8	1·6
कानूनी हैसियत		
आरक्षित	49·6	52·2
संरक्षित	32·5	31·0
अवर्गीकृत	17·9	16·8
बनावट		
कॉनिफेरस	6·1	6·4
चौड़ी पत्तियों वाला	80·6	84·9
बांस	13·3	8·7

स्रोत : वन-पालन और वन-उपज का विकास; कंट्री प्रोफाइल इण्डिया, 1981, कृषि मंत्रालय (डी. एफ. एफ. पी., कंट्री प्रोफाइल इंडिया, 1981)।

2.1 केन्द्रीय वन अधिनियम : ऐतिहासिक क्रम

1864	दी गवर्मेण्ट फॉरेस्ट एक्ट
1878	दी इण्डियन फॉरेस्ट एक्ट
1890	दी फॉरेस्ट एक्ट
1891	दी एमेन्डिंग एक्ट
1901	दी इण्डियन फॉरेस्ट (एमेन्डमेण्ट) एक्ट
1911	दी इण्डियन फॉरेस्ट (एमेन्डमेण्ड) एक्ट
1914	दी रिपीलिंग एण्ड एमेन्डमेण्ड एक्ट
1918	दी इण्डियन फॉरेस्ट एमेन्डमेण्ड एक्ट
1920	दी डिवोल्यूशन एक्ट (एमेन्डमेण्ट)
1927	दी इण्डियन फॉरेस्ट एक्ट
1980	दी फॉरेस्ट कन्जर्वेशन एक्ट

स्रोत : रिपोर्ट ऑफ दी नेशनल कमीशन आफ एग्रीकल्चर, पार्ट ix फारेस्ट्री, 1976 (एन. सी. ए., 1976) पृ. 359

2.2 जंगल से सम्बन्धित अन्य केन्द्रीय अधिनियम

1860	दी इण्डियन पेनल कोड
1871	कैटल ट्रेसपास एक्ट
1871	दी इण्डियन एविडेन्स एक्ट
1872	दी कंट्रैक्ट एक्ट
1894	दी लैण्ड एक्वीजीशन एक्ट
1908	दी लैण्ड रजिस्ट्रेशन एक्ट
1930	दी सेल आफ गुडस् एक्ट
1963	दी लिमिटेशनस एक्ट
1972	दी वाइल्ड लाइफ प्रिजर्वेशन एक्ट
1973	दी कोड आफ क्रिमिनल प्रासीजर एक्ट

स्रोत : एन. सी ए. , 1976, पृ. 363

3.1 वन विभाग : राजस्व, खर्च और अतिरिक्त आय

(करोड़ रुपये में)

अवधि के लिए औसत	कुल राजस्व	खर्च	अतिरिक्त आय
1936-37 से 1938-39	2.59	1.94	0.64
1945-46 से 1947-48	14.93	6.77	7.86
1951-52 से 1953-54	24.01	10.62	13.39
1961-62 से 1963-64	69.38	32.23	37.15
1969-70 से 1971-72	135.87	73.49	62.38
1980-81	472.55	317.82	154.72

स्रोत : 1980-81 के लिए, डी. एफ.एफ. पी., कंट्री प्रोफाइल, इण्डिया, 1981
बाकी के लिए एन. सी. ए., 1976, पृ. 7 और 16.

3.2 लघु वन-उपज : बढ़ता हुआ व्यवसायीकरण

(करोड़ रुपए में)

वर्ष	उत्पादन
1950-51	6.92
1960-61	10.60
1970-71	35.04
1972-73	50.69

स्रोत : फारेस्ट स्टैटिस्टिक्स आफ इण्डिया से जुटाया गया

3.3 कुछ चुने हुए वन आधारित उद्योगों का उत्पादन

(हजार टनों में)

उद्योग	1960	1970	1974	1979
कागज और गत्ता	370	758.3	837.4	1150.0
न्यूजप्रिंट	20	37.3	54.8	50.0
प्लाइवूड	—	72.8	92.8	116.8
फाइबर बोर्ड	—	22.0	25.0	19.1
रेयोन ग्रेड पल्प	—	88.5	113.8	93.0
खाद्य तेल	—	59.0	—	—
तेल बीज	—	233.5	—	—
रेसिन	30.3	41.7	—	—
केन्दू पत्ता	—	80.8*	96.8*	—
लाह	—	24.6	19.3	—
हर्रा	—	107,500 टन 1967 में		
कत्था और कच्च	--	सलाना 7000—9000 टन		
माचिस (प्रति डिबिया 50 कांटियां लाखों में)	6,630	6,803	—	—

*सिर्फ मध्य प्रदेश में

स्रोत : (i) डी. एफ. एफ. पी., कंट्री प्रोफाइल, इण्डिया, 1981
(ii) एन. सी. ए., 1976
(iii) फारेस्ट स्टैटिस्क्स आफ इण्डिया
(iv) एनुवल सर्वे आफ इन्डस्ट्रीज

3.4 भारत में लकड़ी का उत्पादन

(गोलाकार लकड़ी दस लाख घन मीटर में)

वर्ष	औद्योगिक लकड़ी	जलावन की लकड़ी
1956-57	4.46	10.18
1961-62	5.43	10.57
1969-70	8.93	12.86
1979-80	13.50	18.50

स्रोत : (i) डी. एफ. एफ. पी., कंट्री प्रोफाइल, इण्डिया, 1981
(ii) एन. सी. ए., 1976, पृ. 16

3.5 वन उपज व्यापार : राष्ट्रीयकरण

वन-उपज	राज्य (जिनमें इनका व्यापार राष्ट्रीयकृत है)
केन्दू पत्ता	मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, आंध्र प्रदेश
आप्ता पत्ता	महाराष्ट्र
गोंद और बांस	मध्य प्रदेश
साल बीज	बिहार
चन्दन की लकड़ी	कर्नाटक, तमिलनाडु आदि

स्रोत : एन. सी. ए., 1976, पृ. 269-70

4.1 आदिवासी जनसंख्या

वर्ष	जनसंख्या (करोड़ में)	देश की कुल जनसंख्या का प्रतिशत	साक्षर का प्रतिशत
1951	2.25	6.23	—
1961	2.9	6.87	8.54
1971	3.8	7.00	11.29
1976	4.1	7.5	—

स्रोत : एनुवल रिपोर्ट्स आफ कमिश्नर फार शेड्यूल्ड कास्टस एण्ड शेड्यूल्ड ट्राइब्स, गव मेंण्ट आफ इण्डिया (आर. सी. एस. सी. एस. टी)

4·2 आदिवासी जातियां : औसत दैनिक आय

(रुपये में)

वर्ष	पुरुष	गैर खेतिहर कामों से स्त्री	गैर खेतिहर कामों से बच्चे
1964-65	1·67	1·49	0·88
1974-75	3·82	2·34	1·76

स्रोत : रूरल लेबर इन्क्वारी कमीशन रिपोर्ट्स (आर. इ. सी. आर.) 1964 65 और 1974-75

4·3 आदिवासियों पर कर्ज

वर्ष	ग्रामीण मजदूर आदिवासी घरों की संख्या (दस लाख में)	कर्ज में डूबे आदिवासियों का प्रतिशत
1964-65	1·8	45·5
1974-75	2·6	48·8

स्रोत : आर. इ. सी. आर.

4·4 झूम खेती

राज्य/केन्द्रशासित प्रदेश उत्तर-पूर्वी सीमांत	झूम खेती के अन्तर्गत क्षेत्र (हजार हेक्टर में)
अरुणाचल प्रदेश	92·00
आसाम	69·60
मणिपुर	60·00
मेघालय	76·00
मिजोरम	61·61
नागालैण्ड	73·54
त्रिपुरा	22·30
कुल	455·05

स्रोत : एन. सी. ए., 1976, पृ. 148

4·5 आदिवासियों की जमीन : कानूनी विवाद

राज्य	दर्ज मुकदमों की संख्या	फैसला हो चुके मुकदमों की संख्या कुल	आदिवासियों के पक्ष में	आदिवासियों के विपक्ष में	ऐसे मामले जिनमें जमीन वापस लौटाई गई, संख्या
आंध्र प्रदेश (अप्रैल, 1880 तक)	49630	46090	—	—	22378
बिहार (अप्रैल 1979 तक)	43335	40416	24443	15973	—
गुजरात (अप्रैल, 1980 तक)	17171	8898	8648	250	795
महाराष्ट्र (अप्रैल, 1980 तक)	47332	43643	17731	25912	13713
उड़ीसा (अप्रैल, 1980 तक)	49630	46090	22378	—	22378

स्रोत : आर.सी. एस.सी.एस.टी.

5·1 आदिवासी आंदोलन : प्रथम जंगल कानून से लेकर अब तक का ऐतिहासिक क्रम

1867	: अंदमान में विद्रोह
1869-70	: टुण्डी (धनबाद) में संथाल विद्रोह
1872-73	: डफला विद्रोह
1879	: नागा विद्रोह
1880	: कोया विद्रोह, मकनगिरि, उड़ीसा
1883	: अंदमान में विद्रोह
1889	: सरदारी लड़ाई, छोटानागपुर (बिहार)
1891	: मणिपुर में मेइति विद्रोह
1892	: आसाम में लुशाई विद्रोह
1895	: बिरसा मुण्डा की गिरफ्तारी
1911,1913,1914	: बस्तर में गोंड विद्रोह
1920-1921	: ताना भगत आंदोलन, छोटानागपुर
1922	: पूर्वी आंध्र प्रदेश में कोया विद्रोह
1932	: रानी गुइदालो का नागा विद्रोह
1941	: अदिलाबाद में बावेझारी विद्रोह
1942	: उड़ीसा के कोरापुट में लक्ष्मन नाइक का विद्रोह

1942-45	: अंदमान में विद्रोह
1946-48	: वरली विद्रोह, महाराष्ट्र
1940 (जारी है)	: झारखंड आंदोलन
1947 (जारी है)	: नागा विद्रोह
1960 (जारी है)	: मिजो विद्रोह
1967-70	: श्रीकाकुलम (आंध्र) में आदिवासी विद्रोह
1967-71	: नक्सलबाड़ी (प. बंगाल) में आदिवासी किसान विद्रोह
1978 (जारी है)	: सिंहभूम जंगल आंदोलन

स्रोत : वी. राघवइय्या की किताब "आदिवासी विद्रोह" से (अंतिम को छोड़कर)।

6·1 वन-रोपण कार्यक्रम : 1951-1980

	(लाख हेक्टर में)
आर्थिक और औद्योगिक वनरोपण	22·0
जल्द उगने वाले पेड़	14·
अन्य पेड़	00·515
कुल	37·315

स्रोत : छठी पंचवर्षीय योजना, 1980-85, प्लानिंग कमीशन, पृ. 136 तथा डी. एफ. एफ. पी., कंट्री प्रोफाइल, इंडिया, 1981, पृ. 45, 77

6·2 जंगल कटाई

	क्षेत्र (हजार हेक्टर में)
1. सड़क निर्माण के लिए	57·1
2. नदी घाटी परियोजना के लिए	479·1
3. उद्योगों की स्थापना के लिए	127·2
4. खेती के लिए	206·9
5. विविध (प्राकृतिक कारणों से, व्यावसायिक कटाई में, पुनर्वास योजनाओं में तथा आदिवासियों द्वारा)	965·4
कुल	4135·7

स्रोत : डी. एफ. एफ. पी., कंट्री प्रोफाइल, इंडिया, 1981

6·3 जंगल में विदेशी एजेंसियाँ

(छठी योजना के अन्तरगत)

एजेन्सी	परियोजनाओं की संख्या	परियोजना की जगह
एफ. ए. ओ.	4	प. बंगाल, केरल, बिहार, कर्नाटक, गुजरात, उत्तर प्रदेश
विश्व बैंक	3	उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और राष्ट्रीय पैमाने पर
आइ. एफ. ए. डी.	3	केरल, आंध्रप्रदेश, हिमाचल प्रदेश
यू. एन. डी. पी.	9	यू. पी., बिहार, मध्यप्रदेश
एस. आइ. डी. ए.	4	बिहार, केरल, उत्तर प्रदेश
अन्य	10	हिमाचल प्रदेश, प. बंगाल, उत्तर प्रदेश केरल
विश्व बैंक अमरीकी सहायता तथा एस. आई. डी. ए. की सामाजिक जंगल रोपण (सोशल फॉरेस्ट्री) के कार्यक्रम	12	सभी राज्यों में

स्रोत : डी. एफ. एफ. पी. कंट्री प्रोफाइल, इंडिया, 1981 पृ. 79-84 तथा पृ. 132.

6.4 प्राकृतिक जंगल बनाम व्यवसायिक वन रोपण

देश के बहुत से हिस्सों में वन विभाग प्राकृतिक जंगलों को खतमकर उनकी जगह व्यवसायिक दृष्टि से कीमती जाति के पेड़ उगा रहा है। इस परिवर्तन के बड़े दूर गामी प्रभाव निकलेंगे। प्राकृतिक जंगलों में बहुत तरह के पेड़-पौधे होते हैं उनमें आकाश तक ऊंचे उठे पेड़ मझौले कद के पौधे और झाड़ियों तथा जमीन पर फैली घासें होती हैं। ये पेड़-पौधे अपने विकास के लिए अपना भोजन और पानी जमीन के अंदर से और कार्बन डाई आक्साइट तथा आक्सीजन वायुमंडल से लेते हैं। उनकी पत्तियां नीचे गिरकर सूख कर मिट्टी में मिल जाती है जिससे इन पेड़ों की आधार भूमि और भी उपजाऊ हो जाती है। लेगुमेनस पौधों की जड़ों में बेक्टीरिया की ग्रंथियां होती है जो वायुमंडल के नाइट्रोजन को मिट्टी के पौष्टिक तत्व में बदलने में मदद करती हैं। जंगल से ढंकी जमीन पर वर्षा की बौछारों का जोर कम हो जाता है जिससे मिट्टी कटकर बहती नहीं है। जंगल की जमीन पर फैली हुई घनी घासें भी पानी को धीरे-धीरे जमीन के अंदर रिसने में मदद करती हैं और इस तरह से उस पानी को बहकर दूर नहीं जाने देती। जमीन में रिसा हुआ यह पानी ही सूखे मौसम के दौरान मैदानी इलाकों के कुंओं, नदियों और झरनों में प्रकट होता है। पौधों की जड़े मिट्टी को अपने साथ कसकर पकड़े रखती हैं और इस तरह भू-स्खलन और मिट्टी के बहाव को रोकती हैं। पौधे अपनी सांस में कार्बन-डाइ-आक्साइड लेते हैं और ताजा ऑक्सीजन छोड़ते हैं। इस तरह वे हमारे वायुमंडल को दूषित होने से बचाते हैं। घने जंगल अपने इलाकों में नमी बनाये रखते है और इस तरह वायुमंडल को नियंत्रित करते हैं और वर्षा होने में सहायक बनते हैं। प्राकृतिक जंगलों में कीड़े-मकोड़े, पक्षी और पशु भी बड़ी संख्या में रहते हैं और अपने भोजन के लिए वहां पौधे, घास, पत्ते तथा अन्य छोटे-मोटे जंतु भी काफी मिल जाते हैं। बदले में ये जीव-जंतु भी फूलों के पराग को तथा पौधों के बीजों को एक जगह से दूसरी जगह पहुंचा और छितराकर तथा अपने पैखाने से मिट्टी की उर्वरता को बढ़ाकर जंगल में पेड़-पौधों के उगने और बढ़ने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह कि इन प्राकृतिक जंगलों में और उसके आस-पास मनुष्य भी रहते हैं जो जंगल के पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं का उपयोग अपने भरण-पोषण के लिए करती है। जंगल की प्राकृतिक जल-वायु भी उनके स्वास्थ्य को बनाये रखने में सहायता करती है और बदले में ये मनुष्य भी नये-नये पेड़-पौधे लगाते हैं और जंगल की देख-भाल करते हैं।

इस तरह प्राकृतिक जंगल अपने आप में एक पूर्ण व्यवस्था है, इसे हम एक संतुलित प्राकृतिक व्यवस्था कह सकते हैं जिसमें पेड़-पौधे, जीव-जंतु और प्राकृतिक पर्यावरण, इन तीनों का आपस में सामंजस्य रहता है। जो भी प्रक्रिया इस संतुलन और सामंजस्य भंग करेगी वह जंगल के विनाश करगी। जब हम कुछ चुनी हुई जातियों के पेड़ों को लेकर व्यवसायिक वनरोपण करने लगते हैं तो संतुलन और सामंजस्य की उपरोक्त व्यवस्था टूट

जाती है। इस विघटन का पहला शिकार उस प्राकृतिक जंगल के गैर-व्ययसायिक पेड़-पौधे, कीड़े मकोड़े पशु-पक्षी और प्राणी होते हैं जो उस जंगल पर निर्भर थे। इसके फल-स्वरूप मिट्टी अपने पौष्टिक तत्वों का स्रोत खो देती है और वे जड़े ढीली पड़ जाती हैं जो मिट्टी को बांधकर पहले वर्षा के पानी का बहाव रोके हुई थीं। इस परिवर्तन का नतीजा यह निकलता है कि तत्काल मिट्टी का कटाव भू-स्खलन और बाढ़ों का आना शुरू हो जाता है। वायुमंडल को लगातार ताजा ऑक्सीजन और नमी का मिलना कम हो जाता है। इस कमी से पेड़-पौधों का विकास फिर प्रभावित होता है। और इस तरह विनाश और पतन का एक अनिवार्य चक्र शुरू हो जाता है। इस अनुभव को दिखाने वाले उदाहरण बहुत हैं। उत्तराखंड में सागवान के जंगल लगाने के फलस्वरूप भोजन के काम आने वाला पेड़ लेंगदा और टोकरी बनाने के काम आने वाली जंगली घास रिंगल धीरे-धीरे समाप्त हो गयी। इन नये वन रोपणों के फलस्वरूप मिट्टी में अम्ल बहुत बढ़ गया, जिससे मिट्टी की उर्वरता घट गयी इन नये वनरोपण वाले क्षेत्रों से मिट्टी कटाव उसी मात्रा में हुआ जिस मात्रा में उन क्षेत्रों से होता है जिस पर जंगल बिलकुल नहीं हैं। नील-गिरि में यूकलिप्टस और दुबले-पतले पेड़ों के लगातार वनरोपण से झरनों में पानी की कमी आ गयी। प्रकृति के नियमों की उपेक्षा कर व्यवसायिक जंगलों का विकास हमें सिर्फ नुकसान ही पहुंचा सकता है।

स्रोत : दिल्ली के एक पर्यावरण सम्बन्धी संघर्ष समिति **कल्पवृक्ष** द्वारा तैयार एक नोट।

प्रतियों के लिये सम्पर्क करें

1. **अशोक रहेला**
   बजाज खाना
   मुरार
   ग्वालियर (मध्य प्रदेश)

2. **साधना सक्सेना**
   द्वारा किशोर भारती
   पोस्ट : बनखेड़ी
   जिला : होशंगाबाद (मध्य प्रदेश)
   पिन : 461 990

3. **ट्राइबल डोक्यूमेन्टेशन सेन्टर**
   गुटुसाई
   पोस्ट : चाईबासा
   सिंहभूम, बिहार
   पिन : 833201

4. **हिन्दी बुक सेन्टर**
   आसफ अली रोड,
   नई दिल्ली
   पिन : 110002

5. **लालिमा पुस्तक सदन**
   12/81 न्योखाटोल
   पो. बाक्स 2707, काठमाण्डो

6. **राजीव लोचन शाह**
   नैनीताल समाचार
   तल्ली ताल, नैनीताल-263002

पीपुल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राइट्स (जो हाल तक पीपुल्स यूनियन फार सिविल लिबर्टीज एण्ड डेमोक्रेटिक राइट्स के नाम से जाना जाता था) की स्थापना आपातकाल (1975-77) के दौरान हुई। यह संगठन देश के गिने-चुने नागरिक अधिकार संगठनों में से एक है जिसने राजनीतिक उतार-चढ़ाव तथा सरकार परिवर्तन के बावजूद अपना काम जारी रखा।

हालांकि पी० यू० डी० आर० दिल्ली स्थित संगठन है मगर इसने देश के विभिन्न भागों में होने वाले नागरिक अधिकार आन्दोलनों को मज़बूत बनाने में मदद की है। यह संगठन पिछले पांच वर्षों में तेलगांना व पटना के किसान और कृषि मजदूरों, फरीदाबाद व मोदीनगर के औद्योगिक मजदूरों, छत्तीसगढ़ के खान मजदूरों, एशियाड-82 के प्रावासी मजदूरों, अलीगढ़ के मुस्लिमों, बिलासपुर के हरिजनों, दिल्ली के झुग्गी निवासियों, तामिलनाड़ु व दिल्ली के सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं, केरल के कलाकारों, अदिलाबाद और सिंहभूम के आदिवासियों के जनवादी अधिकारों पर किये गये हमलों की जांच करके उन्हें जनता के सामने लाया है।

समय-समय पर इस संगठन ने राजनीतिक कैदियों को कानूनी सहायता दी है। और डिस्टर्ब्ड एरिया एक्ट, बलात्कार बिल संशोधन, एशियाड-82 के अनुबन्धित मजदूरों तथा सार्वजनिक हित के अन्य मुद्दों पर याचिकाएं दायर की हैं।

पी० यू० डी० आर० सीमित साधनों वाला एक छोटा संगठन है। सत्ता में किसी भी पार्टी के होने के बावजूद, इस संगठन की कोशिश यह रही है कि जनवादी अधिकारों के उल्लंघन की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया जाय। जनवादी आन्दोलन को मजबूत बनाने के लिए पी० यू० डी० आर० को जागरुक जनता के सक्रिय सहयोग की जरूरत है।

मूल्य : एक रुपया